सिद्धयोग

संस्थापक संरक्षक एवं
संपादक
योग योगेश्वर अनन्तश्री
चन्द्रमोहनजी महाराज

वर्ष १५
अंक ४
जुलाई १९८२

श्री सिद्ध गुफा
प्रकाशन
सँवाई आगरा

इस अंक में—

प्रकाशक
श्री सिद्धगुफा, सवाई

❀ मनस्वी न गणयति दुःखं न च सुखम् १
❀ कर्माशय और उसका भोग
योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज २
❀ साधकों के प्रश्न तथा उनके उत्तर
श्री सद्गुरुदेव जी द्वारा ६
❀ ब्रह्माण्डात्मा—सूर्य
श्री माधवाचार्य जी शास्त्री १६
❀ श्रेय मार्ग और प्रेय मार्ग
श्री पूर्णचन्द पन्त शास्त्री २१
❀ ईश्वर का नाम तथा उसका स्वरूप
श्री मानिक चन्द ऊमर वैश्य २६
❀ विश्व और मुक्ति
श्री शिवनाथ मेहरोत्रा २६
❀ योगासनों की परम उपादेयता ३१
❀ चित्तको मलिन, विक्षिप्त तथा दुखी करने वाले ६ मल
श्री ओमप्रकाश पालीवाल ३७
❀ ज्योतिष शास्त्र में सिद्धयोग
श्री सूरजप्रकाश शर्मा ३६
❀ योगेश्वर चरित्र माला
आनन्दकन्द योगयोगेश्वर श्री सद्गुरुदेव द्वारा ४७

संयुक्त सम्पादक
'दिव्य'

वार्षिक मूल्य १८ रुपया

सिद्ध योग

वर्ष १५
अङ्क ४

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मुख विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः ।
तत्प्राप्त्यर्थान् बहुविधदं योगशास्त्रोपदेशान्,
कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः' ॥

जौलाई
१९८२

❀ मनस्वी न गणयति दुःख न च सुखम् ❀

—❀❀❀—

क्वचिद् भूमौ शय्या क्वचिदपि च पर्यङ्कशयनः ।
क्वचिच्छाकाहारः क्वचिदपि च शाल्योदनरुचिः ॥
क्वचित्कन्थाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरो ।
मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम् ॥

अर्थात्

कार्य की पूर्णता की इच्छा से मनस्वी पुरुष सुख या दुःख की परवाह नहीं करता। कभी वह भूमि पर सोता है और कभी वह पलंग पर शयन करता है। कभी शाकाहार पर जीवित रहता है तो कभी उत्तम चावल आदि का स्वादिष्ट भोजन पा लेता है। कभी कंथा (लंगोटी) मात्र धारण करता है तो कभी सुन्दर सुखद रेशमी वस्त्रों को धारण कर लेता है।

अर्थात् ऐसा मनस्वी सभी दिशाओं में अलमस्ती का जीवन व्यतीत करता है।

—भर्तृहरि

हमारा विशेष लेख—

卐 कर्मशय और उसका भोग

※ योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

अखिलात्मा त्रिजगत-पावन भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने कर्म-गति की गहनता को समझते हुए अर्जुन से कहा कि—

किं कर्म किमकर्मेति,
कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि,
यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं,
बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं
गहना कर्मणो गतिः ।।

अर्थात् कर्म क्या है और अकर्म क्या है इस बात को बड़े-बड़े विद्वान भी नहीं समझ सके। अखिलात्मा भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन मैं तुम्हें कर्म का रूप समझाता हूँ जिसको समझ लेने के बाद तुम पाप-कर्मों से बच जाओगे। तुम कर्मों को भी समझो और उसके साथ ही अकर्मों को जानो। विकर्मों को समझते हुए अकर्मों के स्वरूप को भी समझ लो क्योंकि कर्मगति बहुत ही गहन है।

इस प्रकार से भगवान श्रीकृष्ण ने कर्मगति की गहनता को भली प्रकार से समझा करके अर्जुन को एक विशेष आदेश दिया और वह यह कि—

कर्मण्यकर्म यः पश्येद-
कर्माणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स
युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ।।
यस्य सर्वे समारम्भाः
कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं
तमाहुः पण्डितं बुधाः ।।
त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं
नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव
किंचित्करोति सः ।।
निराशीर्यतचित्तात्मा
त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म
कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ।।

अर्थात् जो व्यक्ति कर्म के अन्दर अकर्म को देखे और अकर्म के अन्दर कर्म को देखे वह मनुष्यों में बुद्धिमान है। ऐसे व्यक्ति ठीक कर्म का करने वाला युक्त कहा गया है। जो व्यक्ति कामनाओं के संकल्प को छोड़करके कर्मों को आरम्भ करता है वह ज्ञानाग्नि के द्वारा कर्म

समूह का दहन कर डालता है। बुद्धिमान लोगों में उसको पण्डित कहा है। जो व्यक्ति कर्मफल की आसक्ति को छोड़कर नित्य-तृप्त और निराश्रय रहता है तो वह कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता। क्योंकि जिसने सब प्रकार के परिग्रह को छोड़ दिया है एवं सब प्रकार की आशाओं से रहित हो करके अपने चित्त, अपने आप पर कन्ट्रोल करके केवलमात्र कर्तव्य बुद्धि से शरीर से ही कर्म करता है वह फिर पाप को प्राप्त नहीं होता। वैसे संसार भर के सभी प्राणियों के लिए कर्मों का विधान चार प्रकार से कहा गया है:—

१—वह कर्म है जिनको हम पाप-कर्म और विलष्ट कर्म कहा करते हैं।

२—वह कर्म है जिनको हम पुण्य के कर्म कहा करते हैं। यही कर्म दार्शनिक भाषा में अविलष्ट कर्म कहे जाया करते हैं।

३—वह कर्म हैं जो पाप और पुण्य के मिले-जुले कर्म हुआ करते हैं। और

४—वह कर्म हैं जो केवलमात्र कर्त्तव्य-बुद्धि से किये जाया करते हैं उन कर्मों में कर्त्ता के कृतत्व की भावना बिल्कुल नहीं रहती। इस कर्म विधान की शृंखला को इस प्रकार से समझ लेना चाहिये।

जैसे पाप कर्म—अर्थात् जो कर्म परिपीड़न के द्वारा कठोर हिंसा-वृत्ति से किये जाते हैं। अर्थात् मनुष्य अपने स्वार्थ सिद्धि के लिए दूसरों को घोरतम कष्ट देकर भी अपने स्वार्थ की पूर्णता में लगा रहा करता है ऐसे कर्म पाप-कर्म कहलाया करते हैं। ये कर्म मनुष्य काम से क्रोध से लोभ और मोह से किया करता है। इस ही प्रकार से पुण्य-कर्म अर्थात् अविलष्ट कर्म वे कहलाते हैं जिन कर्मों में हिंसा-वृत्ति का नाम नहीं रहता। मनुष्य अपने स्वार्थ की सिद्धि करना चाहता है किन्तु सुख पाने के लिए यज्ञ, ज्ञान, तप आदि पुण्य कर्म किया करता है। इन कर्मों में परिपीड़न का लक्ष्य तो बिल्कुल नहीं रहता किन्तु सकामकर्म तो हैं ही। इसके अतिरिक्त तीसरी प्रकार के वे कर्म कहलाते है जिनमें मनुष्य अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए यज्ञ, ज्ञान, तप आदि कर्म पुण्य के लिये करता तो है किन्तु इनके बीच में पुण्य संवर्धन के लिये अर्थ पुण्य रूप स्वस्वार्थ की सिद्धि के लिये यदि किसी को पीड़ा देनी भी पड़ती है तो वह साधक व्यक्ति निःसंकोच पीड़ा दे डालता है। इस प्रकार के कर्मों को पाप और पुण्य के मिले-जुले कर्म कहा गया है। चौथे प्रकार के कर्म वे होते है जो केवल करने मात्र के लिये किये जाते हैं। उनके अन्दर पाप या पुण्य की कोई भी भावना नहीं होती। ऐसे कर्म अकर्म कहलाते हैं। आनन्द-कन्द भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने ऐसे व्यक्ति का बड़े ही सुन्दर शब्दों में रूपक से समझाया है—

यदृच्छालाभसंतुष्टो
द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।

समः सिद्धावसिद्धौ,
च कृत्वापि न निबध्यते ॥
गतसङ्गस्य मुक्तस्य,
ज्ञानावस्थित चेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म,
समग्रं प्रविलीयते ॥

अर्थात् जो व्यक्ति मद-मत्सर रहित द्वन्द रूप सुख-दुःख के जोड़े को सहन करने वाला एवं यदृच्छा से जो भी लाभ हो जाये, उस ही में सन्तुष्ट रहने वाला है, जिसका मन सिद्धि और असिद्धि में समान रहता है। जो बिल्कुल गतसंग है, जिसका चित्त ज्ञानावस्थित है ऐसा व्यक्ति यथार्थ में कोई कर्म करता भी है तो वह कर्म कर्म नहीं कहलाता अकर्म कहलाता है। ऐसे कर्मों का [illegible] ही हो जाया करता है,

समझाते हुए इस चतुर्विध कर्म जाति को भगवान् श्री पतंजलिदेव जी महाराज ने इस प्रकार से अभिव्यक्त किया है—

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ।

—कैवल्यपाद ७

अर्थात् आशुक्लाकृष्ण कर्म योगियों के होते हैं और शेष तीन प्रकार के कर्म संसार वालों के हुआ करते हैं। इस सूत्र पर पढ़िये व्यासदेव जी का भाष्य—

चतुष्पात् खल्वियं कर्मजातिः कृष्णा-शुक्लकृष्णा, शुक्ला, अशुल्काकृष्णाचेति। तत्र कृष्णा दुरात्मनां, शुक्लकृष्णा बहिः-साधनसाध्या तत्र परपीडानुग्रहद्वारेण कर्माशयप्रचयः । शुक्ला तपःस्वाध्याय-वताम् सा हि केवले मनस्यायतत्वाद-बहिः साधनाधीना न परान् पीडयित्वा भवति । अशुक्लाकृष्णा संन्यासिनां क्षीणक्लेशानां चरमदेहानामिति । तत्रा-शुक्लं योगिन एव फलसंन्यासादकृष्णं चानुपादानात् । इतरेषान्तु भूतानां पूर्व-मेव त्रिविधमिति ॥७॥

अर्थात् यह कर्म जाति चार प्रकार की है—कृष्णा, शुक्लकृष्णा, शुक्ला, आशुक्ला कृष्णा। उनमें से कृष्ण कर्म पापियों के व दुरात्माओं के हुआ करते हैं और इसके बाद शुक्लाकृष्णा कर्माशय बाहर के साधनों के आधीन हुआ करता है। मनुष्य संस्कारवश कभी किसी को पीड़ा या दुःख देता है और कभी किसी पर अनुग्रह करता है। इस प्रकार से इस कर्माशय का पाप-पुण्य रूप उभय फलात्मक प्रचय हुआ करता है। उसके बाद तीसरा कर्माशय शुक्ल—अर्थात् पुण्य प्रधान हुआ करता है। यह कर्मा-शय तप और स्वाध्याय या ध्यानाभ्यासियों का केवलमात्र मन से सम्बन्ध रखने वाला होता है। इसमें बाहर के साधनों की आव-श्यकता नहीं होती और न ही पर-पीड़ा आदि का कोई कर्माशय बनता है। इसके बाद चौथा कर्माशय आशुक्लाकृष्ण कहलाता है

आशुक्लाकृष्ण का अर्थ है, जिस कर्माशय में न पाप ही होते है और न पुण्य ही हुआ करते हैं, यह कर्माशय केवलमात्र कर्त्तव्यबुद्धिसे ही किया जाया करता है। यह कर्माशय केवलमात्र संन्यासियों का, चरम-देहधारियों का होता है। चरम-देह का अर्थ है कि जो लोग कृतकृत्य हो चुके हैं और यह उनका शरीर अन्तिम शरीर है अर्थात् पुण्य-पापात्मक विपाकार भी उनका कर्माशय समाधि के द्वारा क्षीणहो चुका है और वे लोग सर्वकर्मन्यास की स्थिति को प्राप्त कर चुके हैं। इसलिए ऐसा कर्माशय केवलमात्र चरम-देहधारी योगियों का अथवा संन्यासियों का ही हुआ करता है। विविपाकारम्भी कर्माशय केवलमात्र सांसारिक लोगों का ही हुआ करता है। इस कर्माशय का प्रचय क्लेशमूलक होने से ही हुआ करता है।

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश इन पांच प्रकार के क्लेशों का वर्णन पहले किया जा चुका हैं। ये पांचों क्लेश ही कर्माशय को जन्म देने वाले हुआ करते हैं। चरम-देहधारी योगी लोग जब सब प्रकार से कर्मन्यास कर चुकते हैं कुछ समय, क्योंकि उनके कर्म दग्धबीज भाव को प्राप्त हो जाया करते हैं। इसलिये उन लोगों के कर्म कर्माशय प्रचय में में समर्थ नहीं होते। इसलिये कर्माशय को केवलमात्र क्लेशमूलक ही कहा गया है। यह कर्माशय किस-किस प्रकार से कर्म विपाक को पैदा करता है, वह सब हम इसी लेख में आगे चलकर समझायेंगे। इससे पहले यह विचार लेना बहुत ही आवश्यक है कि कर्म विपाकारम्भी कर्माशय कितने प्रकार का हुआ करता है। कुछ कर्माशय दृष्ट जन्म संवेदनीय कहलाया करता है और कुछ कर्म इस प्रकार के हुआ करते हैं, जिनका कर्माशय अदृष्ट जन्म संवेदनीय कहलाता है। जो कालान्तर में अर्थात् जन्म-जन्मान्तर में अपने फलका प्रकाश किया करता है। भगवान् पतंजलिदेव ने इस दृष्ट-जन्म-संवेदनीय और अदृष्ट-जन्म-संवेदनीय कर्माशय को इस प्रकार से बतलाया है—

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः

—साधनपाद १२

अर्थात् यह क्लेशमूलक कर्माशय दृष्टजन्मवेदनीय और अदृष्टजन्म-संवेदनीय दो प्रकार का हुआ करता है। इस सूत्र पर श्री व्यासदेव जी महाराज ने इस क्लिष्टाक्लिष्ट वृत्तियों के द्वारा बनने वाले दृष्टादृष्टजन्म-संवेदनीय के विषय में जो विचार अभिव्यक्त किये हैं उनको निम्नांकित पंक्तियों में पढ़ लीजिये, जिससे क्लेशमूलक दृष्टादृष्टजन्म-संवेदनीय पुण्यपापात्मक विपाकारम्भी स्वरूप का पूरी तरह से ज्ञान हो सके।

तत्र पुण्यापुण्यकर्माशयः, कामलोभमोहक्रोधभवः। स दृष्टजन्मवेदनीयश्चादृष्टजन्मवेदनीयश्च। तत्र तीव्रसंवेगेन मन्त्रतपःसमाधिभिर्निर्वर्तित ईश्वरदेवता-

महर्षिमहानुभावानामाराधनाद्वा यः परिनिष्पन्नः स सद्यः परिपच्यते पुण्यकर्माशय इति। तथा तीव्रक्लेशेन भीतव्याधितकृपणेषु विश्वासोपगतेषु वा महानुभावेषु वा तपस्विसु कृतः पुनः पुनरपकारः, स चापि पापकर्माशयः सद्य एव परिपच्यते। यथा नन्दीश्वरः कुमारो मनुष्यपरिणामं हित्वादेवत्वेन परिणतः। तथा नहुषोऽपि देवानामिन्द्रः स्वकं परिणामं हित्वा तिर्य्यक्त्वेन परिणत इति। तत्र नारकाणां नास्ति दृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशयः। क्षीणक्लेशानामपि नास्त्यदृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशय इति ॥१२॥

अर्थात् ये पुण्यापुण्य प्रधान कर्माशय काम, लोभ और मोह से पैदा होने वाला कहा गया है। उसके दो रूपक हैं—(१) वह जो दृष्टजन्म-संवेदनीय कहलाता है और (२) वह जो अदृष्टजन्म-संवेदनीय कहलाता है। दृष्टजन्म-संवेदनीय कर्माशय का अर्थ है जो इसी जन्म में तत्काल फल देने वाला कर्माशय है, वह दृष्टजन्म-संवेदनीय कर्माशय कहलाता है और दूसरा अदृष्टजन्म-संवेदनीय अर्थात् जो कर्म समूह जन्म-जन्मान्तर में फर्मफल का दाता हुआ करता है, वह कर्माशय अदृष्टजन्म-संवेदनीय कहलाया करता है। वह कर्माशय दो प्रकार का हुआ करता है—(१) पुण्य प्रधान और (२) पाप प्रधान।

पुण्य प्रधान कर्माशय किस प्रकार से दृष्टजन्म-संवेदनीय रूप से प्रचय किया जाता है। उसके प्रकार श्री व्यासदेव जी ने अपने भाष्य में समझाये हैं। उसमें से जो कर्माशय बड़ी भारी तीव्र लगन के साथ मन्त्र, तप और समाधि के द्वारा निर्मित होता है यह एक प्रकार है और दूसरा प्रकार ईश्वर, देवता, महर्षि आदि महानुभावों की आराधना से तैयार किया जाता है। यह पुण्य कर्माशय बहुत जल्दी अपने कर्मफल का देने वाला हुआ करता है। इसी प्रकार से दूसरा दृष्टजन्म-संवेदनीय पाप कर्माशय भी जिसमें मनुष्य अपनी कठोरवृत्ति के प्रभाव से या तीव्रतम पैदा हुए द्वेषों के प्रभाव से भयभीत मनुष्यों में व्याधिजनित मनुष्यों में विश्वासपात्र मनुष्यों में या तपस्वी महानुभावों में मन की कठोरतापूर्वक किया हुआ बार-बार का अपकार इस प्रकार का कर्माशय जल्दी अपने कर्मफलका दाता हुआ करता है। इस बात को श्रीव्यासदेवजी महाराज ने दो उदाहरण दे करके समझाया है। एक उदाहरण है दृष्टजन्म संवेदनीय पुण्य कर्माशय का, जैसे नन्दीश्वर एक साधारण मनुष्य था, किन्तु कृपा विशेष को पा करके वह सदेह स्वर्ग का भागी हो गया। दूसरा राजा नहुस, यद्यपि देवताओं का इन्द्र था, किन्तु अगस्त मुनिके शाप से वह एक एकाएक तिर्यक् योनि को प्राप्त हो गया। इसकी कथा पुराणों में इस प्रकार से मिलती है—मनुष्य

लोक का जीव राजा नहुस जब अपने कृतपुण्य के प्रभाव से देवलोकाधिपति इन्द्र बन गया तो उसने अपने क्रोध और अहंकार वश अगस्त्यादिक सप्त ऋषियों को अपनी पालकी उठाकर चलने की आज्ञा दी, ऋषि लोग उस साधारण जीव नहुस की पालकी को उठाकर तो चल ही रहे थे किन्तु नहुस अपने क्रोध और अहंकार-वश ऋषियों को बार-बार कहता था कि सर्प-सर्प। सर्प शब्द का अर्थ होता है चलो-चलो जल्दी चलो। ऋषियों को एक साधारण जीव के द्वारा किये हुए अपने अपमान से मन में बहुत ही दुःख हुआ और उस दुःख के उद्वेग को सहन न करके अगस्त मुनि ने उस राजा नहुस को तत्काल श्राप दे दिया कि—अरे नीच तू देवेन्द्र होने लायक नहीं है और हमें सर्प-सर्प कह रहा है तो तू इस ही समय सर्प योनि को प्राप्त हो जा और साधारण कीट पतंगा आदि की तरह से मनुष्य लोक में जाकर गिर जा। यह था राजा नहुस के कठोरतम पाप का तात्कालिक शब्द परिणाम। जिसके फलस्वरूप वह तत्काल ही देवेन्द्र से तिर्यक् योनि सर्पता को प्राप्त हो गया। ये दृष्टादृष्ट जन्म संवेदनीय कर्माशय मनुष्य लोक के पाप-पुण्य प्रधान जीवों का ही हुआ करता है। जो जीव नरक में वास करने वाले नारकीय हैं उनका दृष्ट-जन्म संवेदनीय कर्माशय नहीं हुआ करता है और जो लोग क्षीणक्लेश हो चुके हैं उनका भी अदृष्ट जन्म संवेदनीय कर्माशय नहीं हुआ करता है। यह कर्माशय अर्थात् दृष्टादृष्टजन्म-संवेदनीय किस प्रकार से अपने कर्म विपाक को किया करता है उसके तीन प्रकार भगवान पतञ्जलिदेव ने बतलाये हैं।

सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।

—साधनपाद १३

अर्थात् क्लेशरूपक जड़ होने पर कर्माशय तीन प्रकार के फलों का दाता हुआ करता है, वह तीन कर्म-विपाक जाति, आयु और भोग के रूप में आया करते हैं। इसमें कौन-कौन कर्म जन्म-जन्मन्तर में किस-किस प्रकार से विपाकारम्भी हुआ करते हैं, उसका वर्णन भगवान व्यासदेव के निम्नांकित रूप से किया है। जिसको पढ़ करके हर साधक यह भली प्रकार से जान जायेगा कि मनुष्यों को कर्म-भोग किस-किस प्रकार से प्राप्त हुआ करते हैं। श्री व्यासदेव जी का भाष्य जिसमें उन्होंने कर्म-विपाक पर बहुतही उत्तम प्रकार की विचारणा लिखी है, वह इस प्रकार से है—

सत्सु क्लेशेषु कर्माशयो विपाकारम्भी भवति नोच्छिन्नक्लेशमूलः। यथा तुषावनद्धाः शालितण्डुला अदग्धबीजभावाः प्ररोहसमर्था भवन्ति नापनीततुषा दग्धबीजभावा वा, तथा क्लेशावनद्धः कर्माशयो विपाकप्ररोही भवति, नापनीतक्लेशो न प्रसंख्यानदग्धक्लेशबीजभावो वेति। स च विपाकस्त्रिविधो जातिरा-

युर्भोग इति । तत्रेदं विचार्य्यते किमेकं कर्मैकस्य जन्मनः कारणम्, अकथं कर्मानेकं जन्माऽऽक्षिपतीति । द्वितीया विचारणाकिमनेकंकर्मानेकंजन्म निर्वर्तयति । अथानेकंकर्मैकंजन्म निर्वर्तयतीति । न तावदेकं कर्मैकस्य जन्मनः कारणं कस्माद् अनादिकालप्रचितस्यासङ्ख्येयस्यावशिष्टस्यकर्मणः साम्प्रतिकस्य च फलक्रमानियमादनाश्वासो लोकस्य प्रसक्तः स चानिष्ट इति । न चैकं कर्मानेकस्य जन्मनः कारणं कस्माद् अनेकेषु कर्मस्वेकैकमेव कर्मानेकस्य जन्मनः कारणमित्यवशिष्टस्य विपाक कालाभावः प्रसक्तः स चाप्यनिष्ट इति । न चानेकं कर्मानेकस्य जन्मनः कारणम् । कस्मात् तदनेकंजन्म युगपन्न सम्भवतीति क्रमेणैव वाच्यं । तथा च पूर्वदोषानुषङ्गः तस्माज्जन्मप्रायणान्तरे कृतः पुण्यापुण्यकर्माशयप्रचयो विचित्रः प्रधानोपसर्ज्जनभावेनावस्थितः प्रायणाभिव्यक्त एकप्रधट्टकेनमरणंप्रसाध्य सम्मूर्छित एकमेव जन्मकरोति तच्च जन्म तेनैव कर्मणा लब्धायुष्कं भवति । तस्मिन्नायुषि तेनैव कर्मणा भोगः सम्पद्यत इति । असौकर्माशयो जन्मायुर्भोगहेतुत्वात् त्रिविपाकोऽभिधीयत इति । अतः एकभविकः कर्माशय उक्त इति ।

दृष्टजन्मवेदनीयस्त्वेकविपाकारम्भी भोगहेतुत्वाद् द्विविपाकारम्भी वायुर्भोगहेतुत्वाद् नन्दीश्वरवन्नाहुषवद्वा इति । क्लेशकर्मविपाकानुभवनिवर्तिताभिस्तु—वासनाभिरनादिकालसम्मूर्छितमिदं चित्तं विचित्रीकृतमिव सर्वतो मत्स्यजालं ग्रन्थिभिरिवाततमित्येता अनेकभवपूर्विका वासनाः । यस्त्वयं कर्माशय एष एवैकभविक उक्त इति । ये संस्काराः स्मृतिहेतवस्ता वासनास्ताश्चानादिकालीना इति ।

यस्त्वसावेभविकः कर्माशयः स नियतविपाकश्चानियतविपाकश्च । तत्र दृष्टजन्मवेदनीयस्य नियतविपाकस्यैवायं नियमो न त्वदृष्टजन्मवेदनीयस्यानियतविपाकस्य । कस्माद्, यो ह्यदृष्टजन्मवेदनीयाऽनियतविपाकस्तस्य त्रयी गतिः। कृतस्याविपक्वस्य नाशः, प्रधानकर्मण्यावापगमनं वा, नियतविपाकप्रधानकर्मणाभिभूतस्य वा चिरमवस्थानमिति । तत्र कृतस्याविपक्वस्य नाशो यथा शुक्लकर्मोदयादिहैव नाशः कृष्णस्य यत्रेदमुक्तम्—

द्वे द्वे ह वै कर्मणी वेदितव्ये पापकृतस्यैको राशिः पुण्यकृतोऽपरस्तितदिच्छस्व कर्माणि सुकृतानि कर्तुमिहैवतेकमे कवयो वेदयन्ते । [शेष पृष्ठ ४१ पर]

साधकों के प्रश्न तथा उनके उत्तर

(श्री सद्गुरुदेव जी द्वारा)

चित्र वनखण्ड में मकर-वाहिनी भगवती गंगा के पवित्र तट पर एक बहुत ही सुन्दर आश्रम दिखलाई दे रहा है। प्रातःकाल की पवित्र बेला है। ऊषा काल शनैः-शनैः निकट आता जा रहा है। आश्रम निवासी तपस्वी ब्रह्मचारीगण अपने नैत्यिक कर्म शौच-स्नान आदि से निवृत्त हो चुके हैं। वेद-पाठ की पवित्र ध्वनि आ रही है। प्रातःकालीन वेद-पाठ के बाद आश्रम में ब्रह्मयज्ञ करने वाले, ब्रह्मयज्ञ के बाद देवयज्ञ की तैयारी में हैं। शनैः-शनैः स्ततः चारों ओर के आश्रम से ब्रह्मचारीगण वहां इकट्ठे हो चुके हैं। प्रातः-कालीन मङ्गल गीत पवित्र सामवेद की विधि से गायन किये जा रहे हैं। ओह! कितना सुहावना दृश्य है? वेद-ध्वनि कितनी मनोहर है। मालूम पड़ता है कि इस आश्रम में स्वतः ही नाद-ब्रह्म का प्रकाश हो रहा है। एक ओर पवित्र सामवेद का गायन मनोहारी ध्वनियां, उधर देवयज्ञ करने वाले ब्रह्मचारियों की वेद-ध्वनि आश्रम में यज्ञ की पवित्र धूम, आश्रम के वातावरण को कितना शुद्ध बना रहा है। मालूम पड़ता है कि इस आश्रम में पूर्णरूपेण दैवी सम्पत्ति का उदय हो चुका है। धीरे-धीरे सभी वेद-पाठी लोग और स्ततः आश्रम से आने वाले ब्रह्मचारीगण ध्याना-वस्थित हो गये हैं। ध्यानमग्न ये सभी सन्त आश्रम के दृश्य को कितना मनोहारी बना रहे हैं, वर्णनातीत है। ओह! यह देखो, इधर आश्रम की गौशाला है, मालूम पड़ता है कि यहां के ब्रह्मचारीगण सभी गौ-दूध का ही पान करते हैं। गौशाला के अन्दर सेवक लोग गौ-सेवा में रत हैं। गौओं का प्रात कालीन शुद्ध-शुद्ध हरी-हरी घास का आहार गौओं को दिया जा रहा है। उनके रहने के स्थान को घास-फूस आदि हटाकर गौमय को एक तरफ फेंक करके सूर्योदय से पहले ही गौशाला को परम शुद्ध बना दिया गया है। गौशाला की सेवासे निवृत्त होकर आश्रम की अन्य सेवाओं में सभी लग चुके हैं, शनैः-शनैः भगवान भास्कर अपने आगमन की सूचना दे रहे हैं। उषा-कालीन आकाश उजला हो चुका है। आश्रम में आसपास के आश्रमों से सन्त-मण्डलियां एवं

गृहस्थियों के समूह भी जिज्ञासु भावसे आश्रम मेंआकर इकट्ठा होता जा रहा है। योगाचार्य भगवान तपोनिधि जी अभी तक समाधिस्थ हैं। भगवान् भास्कर का उदय हो चुका है, किन्तु योग भास्कर योगाचार्य श्री तपोनिधि जी अपनी पवित्र पर्णकुटीर से अभी बाहर नहीं आये हैं। पर्णकुटीर के झरोखों से जिज्ञासु-वर्ग झुक-झुककर देख रहे हैं कि योग-मार्तण्ड कब समाधि से उठकर जिज्ञासु-समुदाय को अपने दिव्यदर्शन देकर कृतार्थ करेंगे। यह देखो श्री योगाचार्य जी के शरीर में कुछ-कुछ कंपन शुरू हो गया है। मालूम पड़ता है कि उनका प्राण-कोष अब ब्रह्माण्ड से अण्ड में उतरने वाला है। बड़ी मनोहरिणी प्रणवध्वनि कानों में पड़ी। आचार्य के कण्ठ से निकली हुई यह ध्वनि साधकों के मन में एकाग्रता प्रदान कर रही है। सभी जिज्ञासु-समुदाय ने आचार्य को उठा हुआ देख करके गाना आरम्भ कर दिया "हम कब से आये हैं योगेश्वर तेरे द्वारे" जिज्ञासुओं की प्रेम-ध्वनि सुन करके योगाचार्य मुस्कराते हुए बाहर आये। साधकों के मन हर्षोल्लास से भर गये। उन्होंने योगाचार्य जी की जय-ध्वनियों से आकाश को निनादित कर दिया। कुटिया के सामने उपस्थित हुए जिज्ञासु लोगों की जय-ध्वनियों को सुनकर आसपास के रहने वाले सन्त समुदाय के भी हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। सभी के मन एक अनुपम से आनन्द से भर गये। यह लोग हर्ष-मग्न होकर कह रहे थे—भाई चलो, श्रीगुरुदेव समाधि से उठ गये हैं, उनके सामने चल करके हम लोग अपने आपको कृतार्थ करें। शनैः-शनैः तपो-मण्डली से आश्रम भर गया। श्री योगाचार्य तपोनिधि जी एक ऊँचे तख्त पर बिछाये गये पवित्र मृगचर्म पर आसनासीन हो गये। साधक-समुदाय के सामने बैठ जाने पर भी आचार्य का मुखमण्डल बहुत ही शान्त दिखलाई दे रहा है, उनकी अब भी दृष्टि ऊर्ध्व दृष्टि दिखलाई दे रही है। आंखों की पुतलियां शनैः शनैः नीचे आती हैं, किन्तु क्षण भर सभी लोगों की ओर देखते हुए भी भ्रूमध्यावलोकन करने लगते हैं। शनैः शनैः योगाचार्य ने आंखें खोलीं एवं साधक-समुदाय को देखकर उनको कृतार्थ किया। योगाचार्य जी ने अपना भाषण आरम्भ किया। उन्होंने कहा बेटा—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो,
नमेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः,
तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ॥

अर्थात् यह आत्मा मनुष्य के अपनी बुद्धिमानी से, शास्त्रों के श्रवण से या बहुत प्रश्नोत्तरी करने से प्राप्त नहीं होता, किन्तु जिस पवित्र आत्मा को यह स्वयं स्वीकार करता है, उसी को प्राप्त होता है एवं उसके

शरीर को अपना मन्दिर बना लेता है और वह सर्व शक्तिमान् जिसका वरण करते हैं, उसको अपने अन्दर विलीन कर लेते हैं अर्थात् वह उन्हीं का स्वरूप बन जाता है। आचार्य के भाषण को सुन करके एक जिज्ञासु साधक उठा और उसने हाथ जोड़ करके कहा कि—हे गुरुदेव ! क्या इसी का नाम शक्तिपात है ? जंगलों में रहने वाले ऋषि, मुनि, तपस्वी क्या अपनी शिष्य मण्डली को इसी शक्तिपात के द्वारा योग-दीक्षाएँ दिया करते हैं ?

उत्तर—हां बेटा ! यही सिद्धयोग है, इसी का नाम स्वयंवरण है और इसी का नाम शक्तिपात है।

प्रश्न—हे गुरुदेव ! क्या यह शक्तिपात सभी शिष्य मण्डली पर सामान्य रूप से बराबर होता है ? और वह शक्ति सभी के अन्दर पूर्णरूप से जागृति हो जाती है।

उत्तर—हां बेटा ! शक्तिपात तो सामान्य रूप से सभी के लिए बराबर ही होता है ?

प्रश्न—हे गुरुदेव ! यदि शक्तिपात सभी पर सामान्य रूप से बराबर होता है तो यह क्या कारण है ? मैं तो यह देखता हूँ कि हमारे गुरु-भाइयों की ध्यान-समाधि की स्थिति तो सभी की बराबर नहीं होती। एक-एक गुरु-भाई तो इस प्रकार के है कि वह कई-कई घण्टे समाधिस्थ रहते हैं और कोई-कोई गुरु-भाई इस प्रकार हैं जिनका ध्यान सामान्य रूप से चलता है और उनमें भी कई एक ऐसे भी हैं कि जिन पर बार-बार शक्तिपात करने पर भी स्थिति बन ही नहीं पाती। इसका क्या कारण है ?

उत्तर—बेटा ! तुम्हारा प्रश्न ठीक है ? यह तारतम्य रहता है और उसका कारण केवलमात्र एक ही है और वह यह कि साधक जितना-जितना अधिकारी होता है, उतना-उतना शक्ति को पा लेता है। सूर्य का प्रकाश सभी पर बराबर पड़ता है, किन्तु आतिशी शीशे के अन्दर पड़ा सूर्य का प्रकाश जहां पड़ता है, उस वस्त्र को जला देता है, आग लगा देता है और वही प्रकाश यदि पानी से भीगे हुए और गेंद के समान पिण्डाकार बने हुए एक वस्त्र पर पड़ता है, उसको वह सुखा भी नहीं पाता। इसलिए शक्तिपात को प्राप्त करने वाले साधक का हृदय कितना अधिकारी है, यह विचारने की आवश्यकता रहती है। यदि उत्तमाधिकारी है तो वह शक्ति को तत्काल ग्रहण कर लेता है और उसके अन्दर शक्ति का विकास भी उत्तमोत्तम हो जाता है। उसकी वृत्ति एकदम ऊँची उठने लगती है और यदि कोई साधक अधिकारी नहीं है, उसके अन्दर शक्ति का उत्थान नहीं हो पाता है।

प्रश्न—हे गुरुदेव ! जिन साधकों पर शक्तिपात नहीं होता, उनको क्या करना चाहिए ? किस उपाय से वे शक्तिपात के अधिकारी बन

सकेंगे। क्या वे लोग आपकी इस पवित्र कृपा को कभी पा ही नहीं सकेंगे ?

उत्तर—नहीं बेटा ! ऐसी बात नहीं है, शक्ति तो वे लोग पा सकेंगे, किन्तु उनको अपने आपको अधिकारी बनाना चाहिए। देखो योग-दर्शन में भगवान् पतञ्जलिदेव जी बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं कि—

तीव्र संवेगानामासन्नः ।

व्यास-भाष्य—

समाधि लाभः समाधि फलं च भवतीति ।

अर्थात् जिनकी लगन तीव्र है और उपाय भी तीव्र है और उसका प्रयत्न भी तीव्र है, तो ऐसे व्यक्ति को जल्दी से जल्दी समाधि की प्राप्ति हो जाया करती है और इसके अतिरिक्त जो लोग निम्नाधिकारी हैं, वे भी शनैः शनैः बढ़ तो जाते हैं, किन्तु अन्तर इतना ही रहता है कि जिस प्रकार पिण्डाकार बने हुए गीले वस्त्र को सूर्य की किरणें सुखा तो देती हैं, किन्तु वह शनैः शनैः उस वस्त्र को सुखा पाती हैं। यदि उसी वस्त्र को पानी से निकाल कर निचोड़कर वायु वाले स्थान में उसको सुखा दिया जाय, तो भगवान भास्कर की तीव्रतम रश्मियां बहुत ही जल्दी उसको सुखा डालेंगी। देखो भगवान पतञ्जलिदेव ने अपने शब्दों के अन्दर अपने योग-दर्शन में इस विषय को बहुत ही स्पष्टीकरण के साथ समझा करके लिख दिया है। पढ़ो समाधि-पाद में २२ वां योग-सूत्र—

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः ।

व्यास-भाष्य—

मृदुतीव्रो मध्यतीव्रोऽधिमात्रतीव्र इति। ततोऽपि विशेषः । तद्विशेषादपि मृदुतीव्रसंवेगस्याऽऽसन्नः, ततो मध्यतीव्रसंवेगस्याऽऽसन्नतरः, तस्मादधिमात्रतीव्रसंवेगस्याधिमात्रोपायस्याप्यासन्नतमः समाधिलाभः समाधिफलं चेति।

अर्थात् अधिकारों के भेद निम्न प्रकार के हैं। तीन प्रकार के अधिकारी होते हैं—मृदुपाय, मध्यपाय एवं अधिमात्रोपाय। इसी प्रकार से तीव्र संवेग, मध्य संवेग, अधिमात्र संवेग। यदि कोई अधिकारी बहुत गाढ़ी लगन का है और संयोगवश उसको कोई शिक्षक भी उत्तम मिल गये हैं और रास्ता भी ऊँचा मिल गया है तो वह बहुत जल्दी अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेगा और यदि कोई निम्नाधिकारी है और उसका प्रयत्न भी हल्का है और उसको शिक्षक भी साधारण मिल गये हैं तो वह उसको कह दें कि—

राम नाम रटते रहो,
जब लगि घट में प्राण।
कबहूँ तो दीनदयाल के,
भनक पड़ेगी कान ॥

अर्थात् वह बेचारा राम-नाम ही रटता रहेगा। जब कभी दीनदयाल के कान में भनक पड़ ही जायगी, तो उसकी सुनाई हो जायगी, नहीं तो यूँ ही रटते रहो।

प्रश्न—हे गुरुदेव! क्या राम-नाम रटना अच्छी बात नहीं?

उत्तर—नहीं बेटा! अच्छी बात तो है, किन्तु रामनाम का रटना भी मन की एकाग्रता के बिना विशेष काम नहीं करता। मुख्य बात मन की एकाग्रता की है। मन में एकाग्रता हुई, तो राम-नाम का उच्चारण एक बार में ही सब काम कर देगा, और यदि मन के अन्दर एकाग्रता नहीं है, तो र, म, न, ट, त ये सभी अक्षर हैं और सभी में आवाज है। शब्द आकाश का गुण है। आकाश में ही उसका विलय हो जाता है। इसलिए ध्वनि के साथ यदि मन में एकाग्रता है, तो वह फलदायी चीज है। देखो! तुम इस बात को इस प्रकार से समझो। किसी टेप रिकार्डर ने राम-नाम की ध्वनि को टेप कर लिया और मौका पा करके वह उस ध्वनि को बजाने लग गया। उस ध्वनि में से आवाज तो यही निकलेगी—

हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

इस ध्वनि को सुन करके कोई दूसरा व्यक्ति आकर कहता है कि—ओह! कितनी मनोरम ध्वनि निकल रही है? टेप किये इस रिकार्ड की अवश्य मुक्ति हो जायेगी, तो दूसरा व्यक्ति बुद्धिमान तत्काल उसका उत्तर दे देगा, कि अरे भाई! यह तो मशीन है, इसकी क्या मुक्ति हो जायेगी? यह तो स्वयं जड़ है। जड़ पदार्थ की क्या मुक्ति? यदि यह चेतन होता एवं मन की एकाग्रता के साथ इस ध्वनि को उच्चारण करता और साथ ही 'श्रीराम' का ध्यान भी करता, तो उसकी मुक्ति हो जाती। जड़ पदार्थ की मुक्ति थोड़े ही होती है। इसी प्रकार से यदि कोई भी व्यक्ति जिसकी मस्तिष्क शक्ति केन्द्रित नहीं है, अर्थात् जो पागल हो गया है, वह अपनी पागलपन की धुन में सड़कों पर घूमता हुआ राम नाम का उच्चारण करता है। यह तो केवलमात्र उसकी सनक है। उसके मन में किसी प्रकार की एकाग्रता तो है ही नहीं, इसलिए उसका राम-नाम की ध्वनि का उच्चारण करना उसकी मुक्ति का साधन नहीं।

प्रश्न—तो हे गुरुदेव! इसका अर्थ तो यह हुआ कि राम-नाम के उच्चारण में भी अधिकारी भेद की आवश्यकता है? इस बात को आप कृपा करके उदाहरण के साथ मुझे स्पष्ट करके समझाइये, ताकि मैं विषय को समझ सकूँ एवं उन्नति की ओर प्रगति कर सकूँ।

उत्तर—हाँ बेटा! तुम इस बात को इस

प्रकार से समझो। गोस्वामी तुलसीदास की जीवनी में एक कथा आती है, वह इस प्रकार है। गोस्वामी तुलसीदास जी के सामने काफी सन्त समूह इकट्ठा हुआ और उन सब सन्तों के बीच में एक प्रश्न पैदा हुआ कि राम-नाम की शक्ति से कितने कोढ़ी ठीक हो सकते हैं। उस समाज में आये हुए सभी सन्तों में से किसी ने कहा—मैं दस लाख राम-नाम का जप करके एक कोढ़ी को ठीक कर सकता हूँ। उसके बाद दूसरे ने कहा कि मैं पांच लाख से एक कोढ़ी को ठीक करूँगा। इस प्रकार से विभिन्न प्रकार के वाद-विवाद चलते रहे। यही समस्या गोस्वामी तुलसीदास के समक्ष रखी गई उन्होंने हँसते हुए कहा कि अरे भाई राम-नाम की शक्ति में पांच लाख और दस लाख का प्रयोजन ही क्या है। यदि एक बार राम-नाम का उच्चारण किया जाये तो जहां तक उस राम-नाम की आवाज जायेगी और जितने कोढ़ी उस आवाज को सुन लेंगे वे सभी हजारों की संख्या में एक साथही ठीक हो जावेंगे।

प्रश्न—हे गुरुदेव! इतना अन्तर क्यों, राम-नाम तो एक ही है। एक सन्त दस लाख राम-नाम जप कर एक कोढ़ी को ठीक करता है और गोस्वामी तुलसीदास एक ही बार राम-नाम उच्चारण करने पर हजारों कोढ़ियों को ठीक करते हैं। इतना बड़ा अन्तर क्यों हुआ?

उत्तर—हे पुत्र! र, म, च, ट, त यह सभी वर्णाक्षरी के वर्ण हैं और शब्द आकाश का गुण है आकाश में से शब्द पैदा हुआ करता है और आकाश में ही उसका विलय होता है। राम नाम भी एक शब्द है उसकी उत्पत्ति भी आकाश में से होती है एवं उसका विलय भी आकाश में ही हो जाता है। इसलिये इसकी सार्थकता मन की एकाग्रता के साथ है। राम-नाम के उच्चारण करने वाले के मनमें जितनी एकाग्रता होगी उतनी ही शक्ति उसके उच्चारण में होगी। इसलिये अन्तर्जगत में प्रविष्ट व्यक्ति अपनी मानस एकाग्रता के साथ राम नाम का प्रयोग करेगा उतनी ही शक्ति के साथ यह दूसरों के भले का कारण बनेगा। गोस्वामी तुलसीदास का मन एकाग्र था इसलिये उनके मुख से निकला राम-नाम हजारों के भले का कारण हो सकता था।

प्रश्न—हे गुरुदेव! तुलसीदास का ही मन एकाग्र क्यों था और सब सन्त भी तो राम-नाम का जप करते ही थे, उन सब के मन में एकाग्रता क्यों नहीं आयी, और तुलसीदास के ही मन में क्यों एकाग्रता आयी। मन की एकाग्रता तो योग का विषय है। क्या श्री तुलसीदास जी योगी थे? और थे तो कैसे? कैसे और कब-कब उन्होंने योगाभ्यास किया?

उत्तर—हाँ, प्यारे बच्चे! तुम्हारी बुद्धि बहुत अच्छी है। तुम बहुत गहराई के प्रश्न करते हो, हां तुलसीदास योगी ही थे। देखो!

योग-मार्ग दो प्रकार से चलता है--एक तो मनुष्य साधना करते-करते अपने तीव्रतम् अभ्यास से योग को प्राप्त हो जाय और दूसरा वह व्यक्ति है, जो जप, तप, संयम के आधार पर अपने पुण्यों के खजाने को बढ़ा लेता है, वह सिद्धानुकम्पा से सिद्धयोग का विद्यार्थी बन जाया करता है। गोस्वामी तुलसीदास को भी सिद्धानुग्रह प्राप्त हुआ था।

प्रश्न—हे गुरुदेव ! गोस्वामी तुलसीदास तो राम-भक्त थे ? उनका सिद्धों और योगियों से क्या सम्पर्क ?

उत्तर--हे पुत्र ! यह बात तो ठीक है कि गोस्वामी तुलसीदास अवश्य राम-भक्त थे, किन्तु इसके साथ-साथ वे स्वाध्यायशील भी तो थे। तुम यह जानते हो कि हमारा शास्त्रीय सिद्धान्त है कि—"स्वाध्यायादिष्ट देवता सम्प्रयोगः" अर्थात् स्वाध्यायशील होने से साधक को अपने इष्टदेव की कृपा-लाभ होती है और ऋषि, मुनि एवं देवतागण स्वाध्याय-शील व्यक्ति को दर्शन दे करके उसकी मनो-कामना को पूर्ण किया करते हैं।

प्रश्न—हे गुरुदेव ! स्वाध्याय किसको कहते हैं ?

उत्तर—हे पुत्र ! स्वाध्याय के दो अर्थ होते हैं--एक तो प्रणवादि का जप करना। दूसरा वेद शास्त्रों का अध्ययन करना। सो गुसाईं तुलसीदास निरन्तर राम-नाम का जप तो करते ही थे और बारह साल तक भगवान् शिव की आराधना भी करते रहे। इसके फल-स्वरूप भगवान् शंकर तुलसीदास पर प्रसन्न हुए और उन्होंने प्रकट होकर तुलसीदास से कहा कि तुम वर माँगो। इसके फलस्वरूप तुलसीदास ने श्रीराम को प्राप्त करने का वर मांगा। यह वरदान देकर भगवान् राम ने सिद्धयोग का विद्यार्थी तुलसीदास को बना दिया। उसी दिन से तुलसीदास को भगवान् श्रीराम का साक्षात्कार बना रहने लगा। भगवान् शंकर की कृपा प्राप्त करने के बाद तुलसीदास को भगवान् राम के दर्शन अन्दर और बाहर हर समय होने लगे। इसी का नाम सम्प्रज्ञात योग है।

प्रश्न—हे गुरुदेव ! सम्प्रज्ञात योग किसको कहते हैं ? मैं सम्प्रज्ञात योग को नहीं समझता ? इसलिये हे गुरुदेव ! इसके विषय में भी मुझे समझाइये।

उत्तर हे पुत्र ! समाधि के दो रूप माने हैं—सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। सम्प्रज्ञात समाधि वह समाधि कहलाती है, जिसमें अप-वर्ग दाता दृश्य बराबर दृष्टिगोचर होता रहे, इसी रहस्य का संकेत करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी श्रीमद्भगद्गीता में स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि—

या निशा सर्व भूतानां,
तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि,
सा निशा पश्यतो मुनेः ।।

अर्थात् जिस अध्यात्म रूप दिन में संसार वाले सोते रहते हैं, मुनि लोग उसमें जगते रहते हैं एवं संसार के इन झमेलों में बिजनेस आदि के सांसारिक लोग जब जगते रहते हैं तब मुनि लोग सोया करते हैं। इसलिये जिस आध्यात्मिक जगत में मुनि लोग जागते रहते हैं और भीतरी दृश्य को देखते रहते हैं, उसी का नाम सम्प्रज्ञात समाधि है। यह समाधि साधक को शुद्ध सत्वोदय हो जाने के बाद ही प्राप्त हुआ करती है और इस समाधि के द्वारा अन्तर्दृष्टि को प्राप्त किया हुआ साधक अपने आपको शुद्ध प्रकाश में देखता है, इसी का नाम सम्प्रज्ञात समाधि है। यह स्थिति प्राप्त हो जाने के बाद साधक जिस स्थिति में रहता है, उसका दर्शन भगवान् श्रीकृष्ण ने इस प्रकार किया है—

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मि-
न्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्या-
द्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ।।

अर्थात् जिसके रोम रूपों से हर समय प्रकाश की लहरें निकलें और योगी हर समय एक शुद्ध प्रकाश में बैठा रहे तो समझ लेना चाहिए कि योगी को सत्वोदय हो गया और वह योगी सम्प्रज्ञात योग की एक भारी स्थिति को प्राप्त हो गया। यह शुद्ध स्थिति प्राप्त हो जाने के बाद योगी सम्प्रज्ञात समाधि में समाधिस्थ हो जाता है। ऐसी स्थिति में शुद्ध प्रकाश के उदय हो जाने पर साधक को अपने इष्टदेव के दर्शन बराबर होने लगते हैं, ऐसे ही गोस्वामी तुलसीदास को भी यह दर्शन बराबर होते रहते थे। इसलिये उनके राम-नाम उच्चारण करने में यह ताकत थी कि एक बार राम-नाम के उच्चारण करने से हजारों पापियों का भला कर सकते थे। यह था मन की एकाग्रता और योग का फल। इसलिये सब प्रकार की साधनाओं का आधार एकमात्र योग ही है।

प्रश्न—हे गुरुदेव! क्या पातंजलि योग-दर्शन में इस प्रकार का कोई प्रमाण है, जिसमें मंत्र का जाप एवं उसका ध्यान करना जरूरी हो?

उत्तर—हां पुत्र! योग-दर्शन में ऐसे बहुत से प्रमाण हैं। देखो! ईश्वर का दर्शन कर लेने के बाद एवं उसकी सर्व सामर्थ्यता एवं सर्व ज्ञातव्य शक्ति के बतला देने के बाद भगवान पतंजलिदेव ईश्वर का नाम बतलाते हैं। श्री पतंजलि जी कहते हैं कि—

'तस्य वाचकः प्रणवः ।'

अर्थात् ईश्वर का बोधक नाम प्रणव है, किन्तु बोधक नाम प्रणव है। इतना कहने-मात्र से काम सिद्ध नहीं हुआ। तत्प्रत्युत् श्री पतंजलि जी को यह कहना पड़ा कि—

तज्जपस्तदर्थभावनम् ।

अर्थात् वह ईश्वर का ज्ञान कराने वाले प्रणव नाम को जपते हुये उसके अर्थ का ध्यान भी करना चाहिये। पढ़िये व्यास-भाष्य की पंक्तियां—

प्रणवस्य जपः प्रणवाभिधेयस्य चेश्वरस्य भावना, तदस्य योगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थं च भावयतश्चित्तमेकाग्रं सम्पद्यते, तथा चोक्तं—स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत् ।

अर्थात् प्रणव का जप करते हुये एवं प्रणव के अर्थ का ध्यान करते हुये जो मनुष्य योगाभ्यास करता है, उसका चित्त एकाग्र हो जाता है और चित्त के एकाग्र हो जाने के बाद—

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ।

अर्थात् प्रणव का जप करने पर और उसका ध्यान करने पर मनुष्य आत्म-साक्षात्कार को प्राप्त होता है। पढ़िये व्यास भाष्य की पंक्तियां :—

ये तावदन्तराया व्याधिप्रभृतयस्ते तावदीश्वरप्रणिधानान्न भवन्ति स्वरूपदर्शनमप्यस्य भवति, यथैवेश्वरः पुरुषः शुद्धः प्रसन्नः केवलोऽनुपसर्गस्तथाऽयमपि बुद्धेः प्रतिसंवेदी यः पुरुष इत्येवमधिगच्छति ।

अर्थात् प्रणव के जप करने पर अर्थात् जप करते हुये ईश्वर को आत्म निवेदन करने पर उस प्रत्युत चेतन की प्राप्ति होती है एवम् अन्तराओं की निवृत्ति होती है। व्यासदेव जी महाराज औपनिषदिक सिद्धान्त को ले करके इन्हीं भावों की पुष्टि करते हुए स्पष्टीकरण के साथ लिखते हैं कि—

स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत्। स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते ।

अर्थात् स्वाध्याय करते हुए मनुष्य योग-ध्यान को प्राप्त करे और योग-ध्यान करते हुए स्वाध्यायार्थ परमात्मा का चिन्तर करे। स्वाध्याय और योग-ध्यान का खजाना जहां भरता चला जाता है, वहां परमात्मा का प्रकाश अवश्य हो जाता है। भगवान श्रीकृष्ण के शब्दों में—

सर्वद्वाराणि संयम्य
मनो हृदि निरुध्य च ।

मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणामा-
स्थितो योगधारणाम् ॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म
व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं
स याति परमां गतिम् ॥

अर्थात् सब द्वारों पर नियन्त्रण करके व मन को हृदय में रोक करके मूर्धा में प्राण प्रवेश करा करके योग-धारणायुक्त योगी ओ३म् अक्षर का उच्चारण करता हुआ और मेरी याद करता हुआ जो शरीर को छोड़कर जाता है, वह परम गति को प्राप्त होता है। आचार्य तपोनिधि के पवित्र उपदेश को सुन करके एवं गुरु-शिष्य की इस प्रकार प्रश्नोत्तरी को सुन करके जिज्ञासु-समुदाय सभी कृतार्थ हो गया। हर्षोल्लास में आ करके आचार्य तपोनिधि की जय, योगाचार्य श्री तपोनिधि जी जय की ध्वनियों से आकाश को गुंजाय-मान कर दिया। आचार्य पुनः माध्याह्नक नित्य क्रियाओं के लिये पुनः पर्णशाला में प्रवेश कर गये। साधकवृन्द एवं जितनी सन्त-मण्डलियां इधर-उधर के आश्रम से आई थीं, वे सभी सत्संग की पवित्र चर्चा करते हुए अपने-अपने आश्रमों को चली गईं एवं गृहस्थी लोग अपने-अपने गृहों को लौट गये। आश्रम के शान्त वातावरण में एक ध्वनि गूँज रही थी। एक प्रकार से आशीर्वाद मिल रहा कि—

सर्वे भवन्तु सुखिनः
सर्वे सन्तु निरामया. ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु
मां कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् ॥

अर्थात् सभी लोग सुखी रहें। सभी लोग रहित रहें, सभी लोग कल्याण को देखें एवं किसी को किसी प्रकार का भी दुःख न रहे।

—❀❀❀—

❀ प्रथम अवस्था में थोड़ा एकान्त में बैठकर मन को स्थिर करना चाहिए, नहीं तो इधर-उधर बहुत कुछ देख सुनकर मन चञ्चल हो जाता है। दूध को यदि पानी में मिलाओ तो वह पानी में बिलकुल मिल जाता है परन्तु दूधको एकान्त में जमाकर, दही बनाकर, उसे मथकर यदि मक्खन निकाल लिया जाय, तो फिर वह पानी के साथ नहीं मिलता, पानी के ऊपर ही तैरता रहता है। इसी प्रकार, जिनका मन स्थिर हो चुका है, वे कहीं भी बैठकर सदा ईश्वर का चिन्तन कर सकते हैं।

❀ निष्ठा और भक्ति के बिना सच्चिदानन्द की प्राप्ति नहीं होती। एक पति में ही निष्ठा रहने से स्त्री सती होती है, इसी प्रकार अपने इष्ट पर निष्ठा होने पर इष्ट का दर्शन होता है।

❀ हनुमानजी से किसी ने पूछा था, "आज कौन-सी तिथि है?" महावीरजी ने उत्तर दिया, "मुझे वार, तिथि, नक्षत्र आदि किसी का पता नहीं। मैं तो केवल एक श्रीरामचन्द्रजी चरण-कमलों को ही जानता हूँ।"

—रामकृष्ण परमहंस

ब्रह्माण्डात्मा-सूर्य

※ पं० श्री माधवाचार्य जी शास्त्री

वेद भगवान का उद्घोष है कि 'सूर्य आत्मा जगत स्तस्थुषश्च' अर्थात् सूर्य न केवल मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट-पतंग आदि जङ्गम जीवों के ही प्राणात्मा हैं, अपितु वे वृक्ष, लता, गुल्म, वीरुध, औषधि आदि अचल-अन्तःसंज्ञ जीवधारियों के भी प्राणात्मा हैं।

जीवन के लिए जिस उक्षिजन (आक्सीजन) तत्व की अनिवार्य आवश्यकता है, वह सूर्य भगवान ही निरन्तर ब्रह्माण्ड को प्रदान करते रहते हैं।

श्रीमन्नारायण के दिव्य-प्रत्यङ्गों का ही अपर पारिभाषिक नाम देवता है। निरुक्तकार यास्क ने देव शब्द के अनेक विध निर्वचन दिखाते हुए 'दानाद्वा', 'द्योतनाद्वा' कहकर मुख्यतया इसे दानार्थक ही बताया है। अतः भगवान की अनन्त शक्तियों के भण्डार में से प्राणियों को उनके जीवन धारण के लिए तत्तत् शक्ति प्रदान करने वाले माध्यमिक दिव्य स्त्रोतों को देवता कहते हैं। यद्यपि 'अनन्ता वै देवाः' इस वेद प्रमाण के अनुसार वे देवता अनन्त हैं तथापि उनका वर्गीकरण करके उन्हें तैंतीस कोटियों में बांटा गया है—अष्ट वसु, दकापश रुद्र, द्वादश आदित्य, मरुत् और इन्द्र। इनमें भी अन्तर्भाव प्रक्रिया से केवल तीन रूपों को अन्त में प्रधानता दी गई है। यास्क कहते हैं— 'तिस्रो देवताः' अर्थात् तीन देवता हैं–पृथ्वी स्थानीय अग्नि, अन्तरिक्ष स्थानीय वायु और द्यु स्थानीय सूर्य।

सूर्य को केन्द्र बिन्दु मानकर चारों ओर विस्तृत पच्चीस कोटि योजनात्मक आकाश कक्ष को एक 'ब्रह्माण्ड' कहते हैं। पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ अथवा भूः, भुवः, स्वः नामक ब्रह्माण्ड के तीन कल्पित भाग हैं जिन्हें त्रिलोकी कहते हैं। इसकी आत्मा सूर्य भगवान है।

वेदों में सूर्य की महिमा के द्योतक अनेक सूक्त हैं। आदि-सृष्टि के समय श्रीमन्नारायण ब्रह्माजी को जो वेद-ज्ञान प्राप्त हुआ वह केवल वेद बीज-भूत

ओंकार था। वर्णात्मक ओंकार अकार, उकार और मकार–इन तीनों मात्राओं के संघात से निष्पन्न है। इसकी एक-एक मात्रा से गायत्री के एक-एक चरणका विकास हुआ है। इसलिये त्रिपदा गायत्री ओंकारात्मक बीज का ही प्रस्फुटित अंकुर कहा जा सकता है। गायत्री को 'स्तुता मया वरदा वेदमाता' आदि शब्दों द्वारा वेदों की जननी कहा गया है जिसका तात्पर्य यह है कि त्रिपदा गायत्री से ही वेदत्रयी का प्रादुर्भाव हुआ है।

ओंकार की नाद और बिन्दु नामक अन्यतम दो मात्रायें तो प्राण-साधनारत योगीजनों के ही ध्येय हैं। वे ही पञ्च-मात्रात्मक ओंकार के अधिकारी हैं। वर्णात्मक त्रैमात्रिक प्रणव निवृत्तिमार्गी द्विजमात्र का ध्येय है और आगमोक्त मनुष्यमात्र का उपास्य है।

आदिम महर्षिगण तो 'साक्षात्कृत धर्मा' थे। उन्हें स्वयं पठन की आवश्यकता न थी, परन्तु जब कालक्रम से यह शक्ति क्षीण हो गई तब साक्षात्कृत-धर्मा गुरुओं द्वारा असाक्षात्कृत-धर्मा शिष्यों को वेदोपदेश देना प्रारम्भ किया। इस युग में जिसको नारायण से सर्वप्रथम यह उपदेश मिला वह विवस्वान अपरनामक सूर्य भगवान ही थे। इस प्रकार वैदिक ज्ञान परम्परा को मानव समाज तक पहुँचाने का श्रेय सूर्य भगवान को ही है। ❀❀

❀ घमण्ड नहीं करना चाहिये ❀

धन का घमण्ड नहीं करना चाहिए। यदि कहो कि 'मैं धनी हूँ', तो धनी से भी बढ़कर धनी हैं और उससे भी धनी-धोरी हैं। सायंकाल में जब जुगनू उड़ते हैं, तब वे सोचते हैं कि हमीं इस संसार को प्रकाश दे रहे हैं, पर नक्षत्रों के उदय होते ही उन जुगनुओं का घमण्ड शान्त हो जाता है। तब नक्षत्रों को घमण्ड होता है कि वे ही जगत को प्रकाश दे रहे हैं, परन्तु जब चन्द्रमा का उदय होता है, तब नक्षत्र भी लज्जित हो मलिन हो जाते हैं। फिर चन्द्रमा सोचता है कि मैं ही संसार को प्रकाश देने वाला हूँ, मेरा प्रकाश पाकर मानो संसार हँस रहा है। फिर जब देखते-देखते अरुणोदय होता है, तब चन्द्रमा भी मलिन हो जाता है। धनवान यदि इस बात पर विचार करे, तो फिर धन का घमण्ड उसे नहीं रह जाता। ❀❀

卐 श्रेय-मार्ग और प्रेय-मार्ग

❀ श्री पूर्णचन्द्र पन्त शास्त्री

वेदों में सुख के दो साधन बताये गये हैं श्रेय और प्रेय। सब प्रकार के दुःखों से छूटकर सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमेश्वर को प्राप्त करने का उपाय श्रेय-मार्ग कहलाता है।

इन्द्रियों को प्रिय लगने वाले पदार्थों-धन, मान, पद, प्रतिष्ठा, स्त्री, पुत्र आदि को ही सुख का साधन समझकर ममतापूर्वक उनके संग्रह, रक्षा एवं वृद्धि के लिये सदैव प्रयत्नशील रहना प्रेय-मार्ग कहलाता है।

संसार में जन्म लेने वाला प्रत्येक प्राणी जन्म-जन्मान्तर के संस्कारवश स्वाभाविक ही इस मार्ग का अनुगामी बना रहता है। अन्य प्राणियों की भांति मनुष्य भी बाह्य विषय-भोगों की चमक-दमक और आपातरमणीयता पर मोहित होकर उनको पाने और भोगने में ही अपने जीवन की सार्थकता समझता हुआ अपना अमूल्य जीवन खो देता है।

यह प्रेय-मार्ग मनुष्य के बन्धन का मार्ग है। क्योंकि इस मार्ग के अवलम्बी व्यक्तियों में अधिकांश व्यक्ति तो ईश्वर, शास्त्र एवं महा-पुरुषों में अविश्वास रखते हुए धर्म-विमुख रहा करते हैं। शेष जो आस्तिक वृत्ति के होते हैं वे भी लोक-परलोक की भोग सामग्रियों में आसक्त होकर उनकी प्राप्ति के लिये ही सकाम भाव से देव-पितर आदि की उपासना करते हैं। ऐसे व्यक्ति कभी भी कल्याण के भागी नहीं बन पाते। ईशावास्योपनिषद के १२ वें मन्त्र में कहा गया है—

अन्धं तमः प्रविशन्ति
येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो
य उ सम्भूत्यां रताः ॥

अर्थात् जो मनुष्य विनाशशील स्त्री, पुत्र, धन आदि लोक और परलोक की भोग-सामग्री की प्राप्ति के लिये विनाशशील देवता पितर एवं मनुष्यादि की उपासना करते हैं वे अज्ञान रूप घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं और जो अविनाशी परमेश्वर की उपासना के मिथ्याभिमान में रत होकर निष्क्रिय बने रहते हैं वे उनसे भी अधिक अन्धकार में प्रवेश करते हैं। अर्थात् मरणोपरान्त शूकर-कूकर आदि निम्नतम् योनियों को प्राप्त होते हैं।

कठोपनिषद के निम्नलिखित मन्त्रों में प्रेय-मार्ग की निन्दा तथा उसके अनुगामी मनुष्यों की दुर्गति का वर्णन करते हुए कहा गया है—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः ।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढाः,
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥

अविद्याग्रस्त रहते हुये भी जो अपने आपको बुद्धिमान और विद्वान् समझते हैं तथा विद्या, बुद्धि के मिथ्याभिमान में शास्त्र और महापुरुषों के वचनों की अवहेलना करके मनमाना आचरण करते हैं। वे भोगों में आसक्त मूर्ख लोग नाना योनियों में भटकते हुए ठीक वैसे ही ठोकरें खाते रहते हैं। जैसे—अन्धे व्यक्ति द्वारा चलाये जाने वाले अन्धे अपने लक्ष्य तक न पहुँचकर बीच में ही भटकते हुए नाना प्रकार के कष्ट भोगते हैं।

न साम्परायः प्रतिभाति बालम्
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी,
पुनर्पुनर्वशमापद्यते मे ॥

धन-सम्पत्ति के मोह से मोहित तथा प्रमाद पूर्वक मनमाना आचरण करने वाले भोगासक्त व्यक्ति को परलोक नहीं सूझता। वह समझता है कि जो कुछ है यही लोक है। इसके अतिरिक्त स्वर्ग-नरक आदि कुछ भी नहीं है। ऐसा मानने वाला अभिमानी व्यक्ति बार-बार यमराज के चंगुल में पड़कर अपने कर्मानुसार नाना योनियों में भटता रहता है।

प्रेय-मार्ग को महत्व देने वाले व्यक्ति शास्त्रों की अवहेलना करते हुए उपासना रहित सकाम कर्मों (सांसारिक धन्धों) में ही लगे रहते हैं। यदि वे किसी प्रकार का पुण्य-कृत्य करते भी हैं तो सकाम भाव से और अहंकार-पूर्वक करते हैं। उपरोक्त दोनों श्रेणियों के व्यक्ति मरने के बाद परमात्मा को न पाकर निम्न लोकों में जाते हैं। इस बात की पुष्टि मुण्डकोपनिषद् में भी की गई है—

अविद्यायां बहुधा वर्तमाना,
वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्तिबाला ।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्,
तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥

भोगों की प्राप्ति के लिये सांसारिक उन्नति के साधन-रूप नाना प्रकार के सकाम कर्मों में आसक्तिपूर्वक लगे रहने वाले मूर्ख लोग ऐसा अभिमान कर लेते हैं कि—हमने सब कुछ कर लिया है और हम कृतार्थ हो गये हैं। भोगों में अत्यन्त आसक्ति के कारण वे कल्याण के यथार्थ मार्ग को जान ही नहीं पाते। इस कारण बार-बार पुण्योपार्जित लोकों से हटाये, जाकर निम्न लोकों में गिरते हैं—

इष्टपूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं,
नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः ।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं-
लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥

यज्ञादि वेद-विहित कर्मों को तथा कुआं खुदवाना, बावड़ी बनवाना, बगीचा लगाना आदि स्मृतिविहित सकाम कर्मों को करने वाले मूर्ख लोग उन्हीं कर्मों को ही कल्याण का सर्वश्रेष्ठ साधन मानते हैं। उनसे भिन्न वास्तविक श्रेय-साधन अर्थात् परमेश्वर का भजन, ध्यान एवं निष्काम कर्म आदि से वे अनभिज्ञ रहते हैं। अतः पुण्यों के फलस्वरूप स्वर्गलोक में जाकर वहां के भोगों को भोगकर पुण्य क्षीण होने पर पुनः इस मनुष्य लोक में या इससे भी अत्यन्त नीच योनियों—शूकर-कूकर, कीट-पतंग आदि योनियों में अथवा रौरव-कुम्भीपाक आदि घोर नरकों में जाते हैं। इस प्रकार लौकिक सुख-साधनों तथा स्वर्गादि लोकों को ही महत्व देते हुए ममतापूर्वक सकाम कर्मों को करने वाले व्यक्ति भलेही ज्ञानी और पुण्यात्मा होने के मिथ्याभिमान में क्यों न रहें, वे परम कल्याण के भागी नहीं बन पाते। कल्याण का वास्तविक साधन तो योग है, जिसे शास्त्रों में श्रेय-मार्ग कहा है। कठोपनिषद् में श्रेय और प्रेय इन इन दोनों मार्गों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि श्रेय-मार्ग ही आत्मोद्धार का एकमात्र साधन है--

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते,
उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति,
हीयते अर्थाद्यउप्रेयो वृणीते ॥

कल्याण का साधन अलग है और प्रिय लगने वाले भोग-पदार्थों का साधन अलग ही है। इस प्रकार अपने-अपने ढंग से मनुष्य को सुख पहुँचा सकने वाले ये दोनों साधन मनुष्य को अपनी-अपनी ओर खींचते हैं। अधिकांश लोग तो भोगों की बाह्य चमक-दमक पर मुग्ध होकर उनके अन्दर छिपी हुई परिणाम दुःखता की ओर ध्यान न देते हुए प्रेय की ओर खिच जाते हैं, किन्तु कोई विरला ही भाग्यवान प्रभु की अहैतुकी दया से श्रेय को अपनाता है।

इन दोनों प्रकार के मनुष्यों में जो श्रेय को अपनाकर तत्परता से योग साधन में लग जाता है उसका तो सब प्रकार से कल्याण होता है, किन्तु जो सांसारिक भोगों के साधन को स्वीकार करता है वह मानव जीवन के परम लक्ष्य परमात्मा की प्राप्ति रूप यथार्थ लाभ से वंचित रह जाता है। इस प्रकार वह परमार्थ साधन से भ्रष्ट होकर वास्तविक सुख को नहीं प्राप्त कर पाता।

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेत-
स्तौ सम्परीत्य विविनक्तिधीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते
प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते॥

श्रेय और प्रेय ये दोनों ही साधन मनुष्य के सामने आते हैं। बुद्धिमान मनुष्य उन दोनो के गुण-दोषों पर विचार करते हुए दोनों को

पृथक-पृथक समझने की चेष्टा करता है। वह दोनों के तत्व को भली-भांति समझकर भोग-साधन की अपेक्षा श्रेय साधन (योग) को श्रेष्ठ मानकर उसे ही ग्रहण करता है किन्तु मन्द बुद्धि वाला मनुष्य लौकिक योग-क्षेम की इच्छा से भोगों के साधन रूप प्रेयमार्ग को अपनाता है।

श्रेय-मार्ग का पथिक किस प्रकार का आचरण किया करता है और वह किस प्रकार अपने लक्ष्य तक पहुँचता है इस बात का वर्णन मुण्डकोपनिषद् में सविस्तार किया गया है—

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये
शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति
यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा॥

मनुष्य शरीर का महत्व समझ लेने के कारण जिसके अन्तःकरण में परमात्म-तत्व जानने की और परमेश्वर को प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा जाग उठी है। वे चाहे वन में रहने वाले वानप्रस्थ हों, शान्त स्वभाव वाले विद्वान सद्गृहस्थ हों अथवा भिक्षा पर निर्वाह करने वाले ब्रह्मचारी या संन्यासी हों वे तो निरन्तर श्रद्धापूर्वक तपश्चरण में लगे रहते हैं अर्थात् संयमपूर्वक योगांगों का पालन करते हुए परम श्रद्धा के साथ परमेश्वर को जानने और प्राप्त करने के साधनों में लगे रहते हैं। जिसके फलस्वरूप वे रजोगुण के विकारों से मुक्त होकर शुद्धसत्व में स्थित होकर सूर्यलोक के मार्ग से वहां पहुँच जाते हैं, जहाँ उनके परम प्राप्य अमृतस्वरूप, नित्य, अविनाशी परमात्मा निवास करते हैं—

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान ब्राह्मणो,
निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्,
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥

कल्याण-कामी मनुष्य को चाहिए कि वह इस लोक और परलोक के समस्त सांसारिक सुखों की भलीभांति परीक्षा करके उनसे सर्वथा विरक्त हो जाना चाहिए। उसे यह निश्चित समझ लेना चाहिए कि कर्तापन के अभिमान-पूर्वक सकाम भाव से किये जाने वाले कर्मों से स्वतः सिद्ध परमेश्वर नहीं मिल सकता। उस परब्रह्म परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसे हाथ में समिधा लेकर श्रद्धा और विनय-पूर्वक वेदों के रहस्य को जानने वाले योगी गुरु की शरण में जाना चाहिये।

ऐसे सुपात्र शिष्य को शरण में आया देख कर गुरुदेव को क्या करना चाहिए। इस जिज्ञासा पर आगे कहा गया है—

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्
प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं
प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्॥

उन वेदों के तत्व को जानने वाले ब्रह्म-

निष्ठ महात्मा को भी चाहिए कि वे अपनी शरण में आये हुए ऐसे शिष्य को जिसका चित्त पूर्णतया शान्त हो चुका हो, जिसने अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियों को भली-भांति वश में कर लिया हो उसे ब्रह्म-विद्या का तत्व विवेचन-पूर्वक उपदेश करे जिससे वह नित्य, अविनाशी परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त कर सके।

उपनिषद हमें बार-बार यह चेतावनी देते हैं कि हम प्रवृत्ति-जनक दुनियां में उलझकर अपने अमूल्य मानव जीवन को व्यर्थ न खोयें बल्कि योग के अङ्ग-उपाङ्गों का पालन करते हुए ममता एवं आसक्ति से रहित होकर अपने कर्त्तव्य कर्मों को करते जायें। ईश्वर, शास्त्र-एवं महापुरुषों में पूर्ण श्रद्धा रखते हुए शास्त्र-विहित कर्मों को कर्तृत्व के अभिमान से रहित होकर तथा फल की इच्छा न रखते हुए केवल मात्र भगवत्प्रीत्यर्थ करते रहें। ईशावास्योप-निषद् के दूसरे मन्त्र में यही बात कही गई है-

कुर्वन्नेवेह कर्माणि
जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति
न कर्म लिप्यते नरे ॥

मनुष्य को चाहिए कि वह इस संसार में सब कुछ ईश्वर को समझकर ऊन्हीं की पूजा के लिए शास्त्र-विहित कर्त्तव्य-कर्मों को करते हुये ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे। इस प्रकार त्याग भाव से ईश्वर प्रीत्यर्थ किये जाने वाले कर्म-बन्धन के कारण नहीं बनते, प्रत्युत वे कर्म ही उसे निष्काम बना देते हैं। यह निष्कामता ही कल्याण की स्रोत है।

मुण्डकोपनिषद् के निम्नलिखित मन्त्र में सकाम उपासक की निन्दा एवं निष्काम कर्म-योगी की प्रशंसा करते हुये कहा गया है—

कामान् यः कामयते मन्यमानः,
स कामभिर्जायते तत्र तत्र ।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्त्विहैव,
सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ॥

भोगों को महत्व देने वाला मनुष्य नाना प्रकार की कामनाओं के फलस्वरूप जहां,जहां भोग उपलब्ध हो सकते हैं, वहां-वहां अपने कर्मों के अनुसार उत्पन्न होता है, किन्तु जो भगवान के प्रेमी भक्त इस जगत के सभी भोगों से विरक्त हो गये हैं, उन विशुद्ध अन्तःकरण वाले भक्तों की समस्त कामनायें शरीरान्त के समय इस शरीर में ही विलीन हो जाती हैं। जिसके परिणामस्वरूप उन्हें देह त्याग के बाद फिर जन्म नहीं लेना पड़ता और वे भगवान को पाकर जन्म-मरण के बन्धन से सदा के लिए मुक्त हो जाते हैं। अतः कल्याणकामी पवित्र-योग मार्ग का अनुयायी बनना चाहिए। योग-मार्ग ही परम श्रेय का साधन है।

अखिल ब्रह्माण्ड-नायक योग-योगेश्वर श्रीकृष्ण जी का का यही आदेश है—

तपस्विभ्योऽधिको योगी,
ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी,
तस्माद्योगी भवार्जुन ॥

योग-दर्शन में—

ॐ ईश्वर का नाम तथा उसका स्वरूप

❀ श्री मानिकचन्द ऊमर वैश्य

ईश्वर के विषय में भगवान् पतंजलिदेव जी से एक जिज्ञासु ने पूछा—प्रधान पुरुष "व्यतिरिक्तः कोऽयं ईश्वरोनामेति"। अर्थात् प्रकृति पुरुष से भिन्न ईश्वर नाम की यह तीसरी वस्तु क्या है और उसकी परिभाषा क्या है?

"कोऽयं ईश्वरोनामेति" इसके उत्तर में भगवान् पतंजलिदेव ने उत्तर देते हुए कहा—

क्लेशकर्मः विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेषः ईश्वरः।

अर्थात् क्लेश, कर्म विपाकादिकों से अपरामृष्ट पुरुष विशेषका नाम ईश्वर है। परमात्मा तो पुरुष विशेष ईश्वर है ही, लेकिन जीवात्मा भी परमात्मा का अंश होने के नाते पुरुष विशेष है। इन दोनों पुरुषों में भेद इतना ही है कि जीवात्मा, अविद्यादि क्लेश, शुभ, अशुभ कर्म, कर्मों का फल और भोगने की वासना आदि जीवात्मा के साथ सम्बन्ध रखती हैं अर्थात् जीवात्मा में ये सभी बातें पाई जाती हैं। लेकिन परमात्मा इन सभी बातों से परे है। अन्य पुरुषों से परमात्मा पुरुष में जो विशेषता है, वह यह है कि परमात्मा के अन्दर तीनों कालों में इनका स्पर्श नहीं होता, यही अन्य पुरुषों से उस ईश्वर में विशेषता है, ईश्वर सदा ही ईश्वर है और सदा ही मुक्त है। उसके ऐश्वर्यसे न किसी का बढ़कर ऐश्वर्य है और न उसके कोई बराबर है। उसमें ऐश्वर्य की पराकाष्ठा है। योगियों का पुरुष-विशेष ईश्वर वही है जिसको आत्म-समर्पण करने से जीवात्मा समाधि-लाभ करता है, फलस्वरूप जीवात्मा ईश्वर-तुल्य ऐश्वर्यवान् बन जाता है।

ईश्वर में जैसे ज्ञान की पराकाष्ठा है। उसी प्रकार धर्म, वैराग्य, ऐश्वर्य, यश, श्रीविभूति, सम्पति, सौन्दर्य की भी पराकाष्ठा है। संसार में जो कुछ भी ज्ञान, विज्ञान तथा सम्भावित ऐश्वर्य है, इस सबकी परमावस्था ईश्वर में है उससे बढ़कर कोई नहीं है।

वह ईश्वर पूर्व में उत्पन्न हुए ब्रह्मादिकों का भी गुरु है, पूर्व में जो शिव, विष्णु, ब्रह्मादि हुए हैं, सबके सब काल के अधीन हैं। उत्पत्ति और प्रलय को प्राप्त होते हैं, लेकिन ईश्वर काल की हद से परे है, वह काल का भी काल है। वह ईश्वर सब उत्पन्न ब्रह्मादिकों का भी गुरु है।

भगवान् पतंजलिदेव जी से अगला प्रश्न और किया गया कि उस ईश्वर का पवित्र नाम क्या है यानी उस ईश्वर का बोधक नाम क्या है ? तो इसका उत्तर देते हुए योगाचार्य जी ने कहा—

तस्य वाचकः प्रणवः

अर्थात् उस ईश्वर का बोधक नाम ओ३म् है।

शास्त्रों में ईश्वर के अनेक नाम कहे हैं और अनेक भाषाओं तथा देशों में ईश्वर के अनेक नाम लिये जाते हैं। परन्तु मूल प्रकृति और ईश्वर का जिस स्थान पर सम्बन्ध है, वहां से एक ॐ ध्वनि निरन्तर निकलती रहती है। इस स्वयं निसृत-ध्वनि को योगी लोग ध्यान-पूर्वक समाधि अवस्था में सुनते हैं, इसी दिव्य ध्वनि को ईश्वर के स्वयं घोषित नाम को ओंकार कहते हैं। इस ॐ के ही पर्यायवाची अनेक नाम हैं और इसी से अनेक नाम गुणों का ग्रहण होता है। वेद, उपनिषद आदि सभी ईश्वर का नाम ॐ को ही बताते हैं।

मुमुक्षुजनों को उचित है कि वह 'ओ३म्' नाम से ही ईश्वर की उपासना करें, क्योंकि यही ईश्वर का यथार्थ में अनादि और नित्य व्यापक अर्थ वाला नाम है। अन्य नाम सब गौण और संकीर्ण अर्थ वाले हैं।

कठोपनिषद् में इसे स्वतः सिद्ध प्रणव कहा है—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म,
ह्येतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा,
यो यदिच्छति तस्य ॥१६

एतदालम्बनं श्रेष्ठं,
एतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा,
ब्रह्म लोके महीपते ॥१७

कुण्डलिनी शक्ति की व्यक्त और अव्यक्त तथा व्यापक अवस्था से प्रथम वेद का बीज मन्त्र ओंकार का प्रकाश होता है। ओ३म् के पश्चात् और-और देवी-देवताओं के मन्त्र की रचना होती है। इसलिये कुण्डलिनी शक्ति जागरण होने से साधक को प्रथम ध्वनि रूप-शब्द ओंकार का बोध समाधि में होता है, क्योंकि ओंकार से ही मन्त्र सृष्टि का प्रारम्भ होता है। यह ॐ अक्षर ही ब्रह्म है और यही महाश्रेष्ठ है। इसको जो अपने अन्तरात्मा में स्वतः स्फुरित जानते हैं, उनकी सम्पूर्ण कामनायें पूर्ण होती हैं। अतएव यह बीज रूप ॐ ब्रह्म है। ऐसा वेद का कथन है।

समस्त वस्तुओं का नाम वाच्यार्थ है परन्तु उनका रूप लक्ष्यार्थ होता है। ऐसे ही ये परम पवित्र ब्रह्म का रूप ॐ जपादि साधन काल में प्रणव नाम से वाच्यार्थ होता है और जप करके स्थिति काल में ब्रह्म का रूप ॐ लक्ष्यार्थ है। इसलिए योग-दर्शन में कहा है—"तस्य-

वाचकः प्रणवः।" प्रणव ईश्वर का वाचक अर्थात् उसके नाम वा प्रकाशक है। इसलिए वाच्यार्थ होता है। योग साधन करके अथवा जप साधन करके ईश्वर से मिलने से ॐ लक्ष्यार्थ होता है। अतएव प्रणव नाम है, ॐ वस्तु है। इसलिए पुनः योग-दर्शन में कहा है—

तज्जपस्तदर्थ-भावनम्।

अर्थात् प्रणव जप करते समय अर्थ चिन्तन करना भी आवश्य है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि प्रणव नाम है, ॐ वस्तु है। यह ॐ स्वर व्यञ्जन वर्ण नहीं है। जो वर्ण ही नहीं है वह ह्रस्व, दीर्घ प्लुत कैसे हो सकता है। अतएव यह वर्ण रूप 'प्रणव' शब्द नाम वाच्यार्थ है और ध्वनि रूप यह ॐ शब्द लक्ष्यार्थ है। यह हृदय ग्रन्थी भेदी ॐ का विषय योग साधन से अनुभवगम्य है। योग शिखोपनिषद अध्याय तीन में बताया है—

यन्नमस्यं चिदाख्यातं
यन्सिद्धीनां च कारणम्।
येन विज्ञातमात्रेन जन्म
बन्धाप्रमुच्यते ॥१॥
अक्षरं परमोनादः शब्द
ब्रह्मेति कथ्यते।
मूलाधार गता शक्तिः
स्वाधारा विन्दुरूपिणी ॥२
तस्यामुत्पद्यते नादः
सूक्ष्म बीजा दिवाङ्करः।
तां पश्यन्ती विदुविश्वं
यथा पश्यन्ति योगिनः ॥३

अर्थात् जो चिदरूप हैं, नमस्कार करने योग्य हैं एवं जो सिद्धियों का कारण है और जिसका विज्ञान जानने मात्र से जीव जन्म-मरण के बन्धन से छूट जाता है। ऐसे अक्षर ॐ की ध्वनि के परम नाद को शब्द ब्रह्म कहते है। मूलाधार चक्र में स्थित बिन्दुरूपणी शक्ति से ये ध्वनि रूप ॐ प्रकट होता है। जैसे बीज से अंकुर निकलता है। उस प्रकार ही ॐकार का प्रकाश होता है। इसको साधक मूलाधार में परावाणी तथा नाभि में और पश्यन्ती में अनुभव करना है। श्री याज्ञवल्क्य जी ने प्रणव की अभिव्यक्ति निम्न प्रकार की है।

अदृष्ट विग्रहो देवो
भाव ग्राह्यो मनोमय।
तस्योङ्कर स्मृतो नाम
तेना हूतः प्रसीदति ॥

अर्थात् उदृष्ट विग्रह देव जो अव्यक्त है। मन की धारणा से जिसका चिन्तन किया जाता है, उस परम पुरुष का नाम ही ॐ है। ॐ का उच्चारण करने से वह अव्यक्त आत्मा प्रसन्न होता है। ब्रह्मा, विष्णु, शिवादि के जितने नाम है उनका समावेश स्वतः ही प्रणव में हो जाता है।

प्रणवो वाचकस्तस्य
शिवस्य परमात्मनः।

卐 विश्व और मुक्ति

❀ ज्योतिष कलानिधि श्री शिवनाथ मेहरोत्रा

महोपनिषद् में कहा है—

मनोविलासः संसार इति मे निश्चिता मतिः ।

यह समस्त विश्व मन का ही विलासमात्र है। संसार में कहीं सुख और दुःख की जो प्रतीति हो रही है वह केवल हमारे मन के प्रभाव से ही है। जब हमारा मन किसी वस्तु की ओर आकर्षित होता है तब वही वस्तु सबसे अधिक सुन्दर और आकर्षक दिखाई पड़ती है। वही वस्तु कुछ समय बाद हमारे मन से उतर जाती है तो हमें घोर क्लेश का स्वरूप प्रतीत होने लगती है।

महर्षि ऋभु के पुत्र निदाघ अपने पिता की आज्ञा ग्रहण कर तीर्थ यात्राओं में प्रवृत्त हुए। उन्होंने साढ़े तीन करोड़ तीर्थों में स्नान किया। वापस घर लौटकर उन्होंने अपने पिता ऋभु को अपनी बात कहते हुए प्रकट किया कि समस्त तीर्थों में स्नान के बाद मेरे मन में यह विचार बना है कि यह विश्व उत्पन्न होता है और नष्ट हो जाता है। उत्पन्न पुनः होने के

[पिछले पृष्ठ का शेष]

शिव रुद्रादि शब्दानां
प्रणवो हि परः स्मृतः ।

अर्थात् भगवान सदाशिव ही वाचक प्रणव के वाच्य हैं। शिव रुद्रादि शब्दों में उनका बोधक नाम प्रणव ही प्रमुख है और उन भगवान महेश्वर में कोटानि-कोटि ब्रह्मा, विष्णु का समावेश है।

इस प्रकार यह प्रमाण से सिद्ध हो चुका है कि ॐ ईश्वर का नाम अथवा उसका प्रतीक है। वास्तव में ओ३म् से ही यह व्यक्त जगत उत्पन्न हुआ है। इसकी सत्ता भी ओ३म् में ही है और अन्त में जगत ओ३म् में ही लय हो जाता है। जीव आत्मा का आत्मा उसका असली स्वरूप है। आत्मा एक विशुद्ध निर्मल ज्योति है। उसे प्रकृति के तीन गुणों सत, रज, तम से ढका हुआ है। सतोगुण सफेद रंग की चिमनी है। जिसमें से आत्मा की ज्योति स्पष्ट झलकती है। दूसरी लाल रंग की चिमनी रजोगुण की है, इसके माध्यम से वह शुभ्र प्रकाश लाल हो जाता है, जिससे आत्मा का यथार्थ ज्ञान नहीं होता। तीसरी चिमनी तमोगुण की काले रंग की है। इसके अन्धकार में कुछ नजर नहीं आता यही जीव का अज्ञान है और यह अज्ञान ही बन्धन का कारण है।

—❀❀❀—

लिए ही यह नष्ट होता है। मन से जो विकार उत्पन्न होते हैं उन्हीं से विविध कामनाओं का जन्म होता है। अतः मनोविकारों को उत्पन्न करने वाला अहंकार ही मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है। अहंकार रिक्तता ही जीवन की वस्तु है।

मन, अहंकार, चित्त और बुद्धि के सम्बन्ध में निदाघ के विचार भी उनके पुण्य-कर्म के प्रभाव से प्राप्त हुए सार अनुभव हैं।

वे कहते हैं—अग्नि का भक्षण करना भले ही सरल कार्य हो परन्तु चित्त का निग्रह करना अत्यन्त विषम कार्य है। यह चित्त बाह्य विषयों को व आभ्यन्तर विषयों को ग्रहण करता रहता है। जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में विश्व की स्थिति चित्त-वृत्ति पर ही निर्भर है। चित्त के क्षीण होने पर ही संसार का क्षय होता है। अतः चित्तको प्रयासपूर्वक क्षीण करना ही कर्त्तव्य है।

निदाघ की बातें सुनकर महर्षि ऋभु ने कहा—शम, विचार, सन्तोष व सत्संग ये चार मोक्ष (अर्थात् चित्त क्षय) के द्वारपाल हैं। इनमें से यदि एक का भी आश्रय पकड़ लें तो शेष तीनों अपने आप प्राप्त हो जाते हैं। चित्त का अकर्तृत्व ही चित्त वृत्तियों का निरोध कहा गया है। इसे ही कैवल्य अवस्था या परा-शान्ति कहते हैं। जो कुछ प्रपञ्च दिखाई पड़ रहा है यह तत्त्वतः प्रणव ही है। जो कुछ दिखाई पड़ता है वह चित् - विश्व में दिखाई पड़ता है। अतः जो कुछ दीखता है वह चित् के स्पन्दन का अंश रूप ही है। सांसारिक कामों को करते हुए भी हर समय प्रबुद्ध चित्त से आत्मा ही एकमात्र वस्तु है। यह समझते हुए निश्चल दृढ़ चित्त रक्खो तो कल्याण प्राप्त हो जाएगा। कभी निरर्थक कामों को न करो और दुष्ट संगति से बचते रहो।

महर्षि ऋभु ने आगे कहा— जो व्यक्ति मुक्ति की कामना करता है वह जीव और ईश्वर के वाद-विवाद में अपनी बुद्धि को भ्रमित न करे। अपनी बोधप्रद शक्ति को जगाओ। गुरुदेव के अनुग्रह से अपने निजी ज्ञान-चक्षुओं को खोलो। आत्मनिष्ठ हो जाओ।

खेद और उल्लास यह दोनों ही मनुष्य द्वारा स्वयं उत्पन्न किये हुए हैं, ऐसा समझ लेने पर समता ही शेष रहेगी। समता की यथार्थ स्थिति को अच्छी तरह धारण कर लेने पर आवागमन का कारण ही समाप्त हो जाता है।

चेतना प्रकाश रूप है। परन्तु वही जब मानसिक संकल्प का रूप धारण करे तो अन्धकार बन जाती है। वासना के कारण, मानसिक संकल्प का सर्वथा त्याग कर आकाश के समान स्वच्छ व शान्त मन वाले हो जाओ। हे मुने! सभी संकल्पों को शान्त कर, कामनाओं के परित्यागपूर्वक निर्विकल्प में अवस्थित होवे।

संशान्त सर्वसंकल्पः प्रशान्त सकलैषणः।
निर्विकल्पपदं गत्वा स्वस्थो भव मुनीश्वर।

पूर्व प्रकाशित से आगे—(३)

卐 योगासनों की परम उपादेयता

योगी का आहार

हमारे शास्त्र कहते हैं—"आहार शुद्धौ सत्वशुद्धिः, सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृति" अर्थात् आहार शुद्धि होने पर सतोगुण का विकास होता है और सत्व शुद्धि होने से ध्रुवा स्मृति प्राप्त होती है। सत्व शुद्धि ही समाधि की दात्री है। जिस प्रकार से योगानुष्ठान आसन प्राणायाम आदि करने से बराबर विवेक-ख्याति पर्यन्त ज्ञान दीप्ति होती चली जाती है, इसी प्रकार जिस मनुष्य का आहार-विहार परिपूर्ण रूपेण संयम है जो योगी अपने आहार को बिल्कुल सात्विक दैविक आहार बना लेता है, उसके शरीर में स्वभावतः ही दिव्य गुणों का प्रकाश हो जाया करता है। जगदात्मा भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने गीता के सत्रहवें अध्याय में तीन प्रकार के आहारों का वर्णन किया है और वे आहार सत्व प्रधान प्राणियों को रज प्रधान प्राणियों एवं तमोगुण प्रधान प्राणियों को अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार प्रिय होते हैं।

सतोगुण प्रधान मनुष्यों का आहार

आयुः सत्ववलारोग्यः
सुखप्रीत्ति विवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा,
हृद्या आहाराः सात्विकप्रियः॥

अर्थात् आयु वृद्धि करने वाले, सत्व बुद्धि करने वाले, बल को बढ़ाने वाले, आरोग्यता देने वाले सुख और प्रेम को बढ़ाने वाले रसीले चिकने जिनकी शक्ति कायम रहने वाली है। जो हृदय को पुष्ट करने वाले हैं, अर्थात् जो स्वभाव से ही रुचिकर हैं, ऐसे आहार सात्विक कहलाते हैं और वह सतोगुण प्रधान व्यक्तियों को ही अच्छे लगते हैं। जिन आहारों का लक्षण जगदात्मा भगवान श्रीकृष्ण ने ऊपर के श्लोक में किया है, वे सारे के सारे गुण गो-घृत, दूध, मक्खन, मलाई आदि पेय पदार्थ गेहूँ, चना, जौ या रसीले सेव, सन्तरा, अंजीर और मौसमी आदि फल घीया, बथुआ, तोरई, चौलाई, पालक, मैंथी आदि पत्ती के साग और पवित्र कन्द-मूलों का आहार ये सब सात्विक आहार हैं। इनके सेवन करने से मन में सतोगुण का ही विकास होगा। बुद्धि पवित्र रहेगी और सतोगुण प्रधान को स्वभावतः यही गुण प्यारे लगेंगे।

रजोगुण प्रधान मनुष्यों का आहार

कट्वम्ल लवणात्युष्ण,
तीक्ष्णरूक्ष विदाहिनः।

आहारा राजसस्येष्टा,
दुःख शोकामय प्रदाः ॥

अर्थात् कड़ुवे, कसैले आदि खट्टे आम की खटाई आदि ज्यादा नमक वाले, अत्यन्त गर्म जिनमें बहुत अधिक मिर्च पड़ी हो व रूखे खुश्क तेज मिर्चों के पकौड़े आदि और इसी प्रकार के जो शरीर में दर्द देने वाले, गर्मी पैदा करने वाले दुःख और चिन्ता को पैदा करने वाले भोजन रजोगुण को बढ़ाने वाले होते हैं। जो रजोगुणी प्रधान मनुष्य हैं, उन्हें ये सब भोजन प्रिय होते हैं।

तमोगुण प्रधान मनुष्यों का आहार

यातयामं गतरसं,
पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं,
भोजनम् तामस प्रियम् ॥

अर्थात् रस रहित दुर्गन्धयुक्त बासी उच्छिष्ट एवं रस रहित भोजन तमोगुण को बढ़ाने वाला है और तामसी व्यक्ति को ही प्रिय होता है। जैसे पहले दिन के बने हुए जिन पर से रात उतर चुकी है, वे गत रस हो जाते हैं ऐसे भोजन तम प्रधान होते हैं। जिस-जिस स्वभाव के व्यक्ति संसार में रहते हैं उनको उसी प्रकार का खान-पान, रहन-सहन प्रिय हुआ करता है। योगी के लिए सात्विक बन जाना बहुत आवश्यक होता है। जब तक उसके अन्दर सतोगुण की वृद्धि नहीं होती, तब तक वह परम लक्ष्य को प्राप्त करने में असमर्थ रहेगा। इसके साथ-साथ एक बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि मन की शक्ति सब आहारों में परिवर्तन कर देती है। दूध, घी, फल, कन्द-मूल, शाक-सब्जी ये सब भोजन सात्विक हैं, किन्तु कोई पाप-कमाई करने वाला ऐसे आहार खिलाता है, तो उनमें उसके मन का असर रहा करता है। सुनते हैं ननकाना साहब में एक बार गुरु नानकदेव के सामने एक नवाब की ओर से घृत पक्व सुमधुर भोजन आया और दूसरी ओर से दो सूखी रोटी कोई किसान ले करके आया। गुरु नानकदेव ने वे रोटियां स्वीकार कर लीं, किन्तु वह भोजन स्वीकार नहीं किया। लोगों ने उनसे हट की कि क्या कारण है कि इतने पवित्र घी-दूध के भोजन को त्याग दिया और सूखे जौ की रोटियों को आपने स्वीकार कर लिया। गुरु नानकदेव ने जवाब दिया—इन सूखी रोटियों में दूध है और घृतयुक्त भोजन में खून है तमोगुण है। इसलिए ऐसे तमोगुण प्रधान भोजन मुझे रुचिकर नहीं थे। यह कहकर उन्होंने पूड़ी उठाकर निचोड़ी और सूखी रोटी उठाकर निचोड़ी। रोटियों से दूध व पूड़ियों से खून गिरने लगा। लोगों ने इस चमत्कार को देखकर बड़ा आश्चर्य माना। इसलिये मनुष्य को चाहिए कि वह भोजन सात्विक करे। वह

नेक कमाई का हो तो वह सोने में सुहागा होगा। इसके अतिरिक्त भगवान् ने गीता में आज्ञा दी है—

युक्ताहार विहारस्य,
युक्त चेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य,
योगो भवति दुःखहा ॥

अर्थात् जिनका आहार-विहारयुक्त है, जिनका सोना व उठनायुक्त और जिसकी हर चेष्टा नियमित होती है, उनके लिए योग दुःखों का नाश करने वाला है। इसलिए सात्विक आहार के साथ-साथ युक्ताहार-विहार के नियम का पालन करना बहुत आवश्यक है। मनुष्य को भोजन चबाकर करना चाहिए। दूध को थोड़ा-थोड़ा करके पीना चाहिए, इससे साधकों को यह अनुभव होता रहे कि चबाया हुआ पदार्थ पेट में पहुँचते ही हजम हो चुका है। आधा पेट भोजन करें, आधा जल से और चतुर्थ भाग वायु के लिए खाली रहने दें। इस प्रकार का आहार हर व्यक्ति के लिए पूर्ण लाभदायक है। इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि एक नव-जवान शीर्षासन आदि करता है और वह अपने आहार को इतना संयमित कर दे कि सहन-शक्ति से बाहर हो। उसका परिणाम भी अवश्य खराब निकलता है। ऐसे व्यक्तियों को भूखा नहीं रहना चाहिए न उपवास ही करना चाहिए। उपरोक्त नियम उन परमार्थ जिज्ञासुओं के लिए है जो हर समय स्वाध्यायशील हैं और समाहित चित्त हैं। नैत्यिक व्यायाम करने वाले नव-जवानों के लिए उपयुक्त आहार करना व भूख को न मारना आवश्यक है।

ब्रह्मचर्य व्रत

भगवान् जगदात्मा श्रीकृष्ण ने उपर्युक्त श्लोक में युक्ताहार विहारस्य इन शब्दों को कह करके युक्ताहार-विहार शब्द का भी प्रयोग किया है। विहार शब्द का अर्थ है ऐश-आराम रमण, इसलिए योगाभ्यासी के लिए एक यह भी आवश्यकीय कर्तव्य है कि वह जगदात्मा के शब्दों का पालन करने के लिए और अपने ऊँचे अभ्युत्थान से लिए अपने आपको विहार में न डाले। युक्ताहार विहारस्य का अर्थ है, ठीक समय पर खाना और संयम से रहना। हमारे शास्त्रों में स्थान-स्थान पर ब्रह्मचर्य का बहुत बड़ा वर्णन मिलता है। ब्रह्मचर्य शब्द का अर्थ है—

ब्रह्मणि चरतुं शीलमस्यास्तीत ब्रह्मचारी

अर्थात् ब्रह्म के अन्दर विचरने वाली जिसकी आदत पड़ गई है, वह ब्रह्मचारी कहलाता है और दूसरे शास्त्रों में वीर्य को ब्रह्म माना है। भगवान शिव ने शिव-संहिता में—

अहम् विन्दु रज शक्तिः

अपने आपको बिन्दु स्वीकार किया है। और रज को शक्ति माना है इसके अतिरिक्त और भी स्थान-स्थान पर वीर्य को ब्रह्मरूप से वर्णन किया है। अतः जब तक ब्रह्मरूप वीर्य शरीर में व्यापक होकर नहीं रहेगा, तब तक मनुष्य योगाभ्यास का अधिकारी बनता ही नहीं, उसमें भी वह हठाभ्यास से कोसों दूर रहता है। यदि कोई विलासी व्यक्ति अपने आपको हठ योगी बनना चाहता है तो उसका वह प्रयास इसी प्रकार का प्रयास है जैसे कोई बालक हाथ से चन्द्रमा को पकड़ना चाहता है। अतः योगासन करने वाले व्यक्ति के लिए यदि कोई आसनों के उच्चतम परिणाम को देखना चाहता है। तो उसके लिए ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना भी बहुत ही अनिवार्य है, ब्रह्मचर्य किसको कहते है उसके विषय में हमारे आचार्य लिखते हैं—

कर्मणा मनसावाचा
सर्वावस्थासु सर्वदा।
सर्वत्र मैथुन त्यागो
ब्रह्मचर्य प्रचक्षते॥

अर्थात् सब अवस्थाओं में मन वाणी और कर्म से सर्वथा मैथुन त्याग ही ब्रह्मचर्य है। मूत्राशय और मलाशय के ऊपर मणिपूरक में वीर्य का कोष रहता है। शरीर में व्यापक वीर्य इधर उधर की कामुक तरंगों से द्रवित होकर वहां इकट्ठा हो जाता है। और उस स्थान में इकट्ठा होने पर वीर्य शरीर में पुनः व्यापक नहीं हो पाता और कामोद्रेकों से वह स्खलन की ओर ही जाता है इस प्रकार के विचारों से वीर्य का कोष बार-बार खाली होता रहता है। अतः ब्रह्मचर्यव्रत धारण करने वालों के लिए यह परम आवश्यक है कि वे वीर्य को शरीर में व्यापक करने के लिए कोई न कोई व्यायाम अवश्य करते रहें। किन्तु अन्य व्यायामों की अपेक्षा जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं यौगिक व्यायाम ही परमोत्कृष्ट हैं। जिसके करने से शरीर की हर नाड़ी ठीक प्रकार से रसरक्त के वहन करने वाली बनती है। योगासनों के करने से सभी स्नायु सबल हो जाते हैं। छोटी छोटी शिरायें भी अपने कार्य को ठीक करती हैं। यथोचित मात्रा में स्थान-स्थान पर रस रक्त को पहुँचाती हैं। अतः योगासनों के द्वारा बहुत जल्दी शरीर में वीर्य व्यापक हो जाता है। कुछ आसन तो इस प्रकार के हैं जिनके करने से वीर्य-वीर्य कोष की ओर न जाकर ऊर्ध्वगमन करता है जैसे ब्रह्मचारी कुछ दिन में ही ऊर्ध्वरेतस्क बन जाते है। भगवान् शिव ने शिव संहिता में स्पष्ट कर दिया है—

सिद्धे बिंदौ महायत्ने
किन्न सिद्धयन्ति भूतले।
उर्ध्वरेता भवेद्यस्मात् तावत्
काल भयं कुतः॥

अर्थात् प्रयत्न करके जो लोग बिन्दु जय करते हैं वे संसार में सभी कार्य कर सकते हैं। जिन्होंने अपने आपको उर्ध्वरेतस्थ बना लिया है उनको कालभय उपस्थित नहीं होता। इसलिए योगासनों के अभ्यासी को ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना भी उनका आवश्यकीय कर्तव्य है। बहुत जगह पर इस प्रकार की घटनाएँ देखने में आती हैं कि जिन्होंने भोग के साथ योग को चाहा उन्होंने अनायास अपनी मृत्यु को बुला लिया, ब्रह्मचर्य रहित विलासी व्यक्ति यदि योगासन का अभ्यास करते हैं तो 'अकर्णात् कर्ण धेय' के नियमानुसार कुछ न कुछ तो ठीक होगा ही। किन्तु उत्कृष्ट फल की प्राप्ति उसी हालत में हो सकती है जब कि वह सावधानी के साथ ब्रह्मचर्य का पालन करे। ब्रह्मचारी के शरीर में व्यापक हुआ वीर्य उसको अतुल बल देता है। योग दर्शन में भगवान पतञ्जलिदेव ने भी स्पष्ट सीधे शब्दों के अन्दर लिख दिया है—

ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।

और इसका अर्थ करते हुए व्यासजी महाराज ने और भी ऊँचे शब्दों में ब्रह्मचर्य की प्रशंसा लिखी है।

यस्य लाभादप्रतिधान
गुणानुत्कर्षयति।
सिद्धश्च विनयेषु ज्ञान-
माधातुं समर्थो भवतीति॥

अर्थात् ब्रह्मचारी अधिक गुणों को धारण करता है एवं सिद्ध हो जाने पर अपने शिष्यों में शक्तिपात करने की ताकत वाला हो जाता है। अतः जो लोग योग आसन करते हुए पूर्ण रूपेण ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करेंगे, उनके शरीर में अलौकिक गुणों का प्रकाश होना स्वाभाविक है। ब्रह्मचर्य व्रत का यह अर्थ नहीं कि जंगलों में घूमने वाले साधु, जटा जूटधारी, जीवन भर शादी न करे तो वही ब्रह्मचारी कहलाने के अधिकारी हैं। यदि कोई जटा जूटधारी व्यक्ति ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन नहीं करता है तो वह ग्रहस्थियों से बदतर हो सकता है और जो ग्रहस्थी अपने ग्रहस्थ धर्म को निभाता हुआ ऋतुकालानुगामी है और केवल सन्तानोत्पत्ति के लिए वीर्यधान करता है वह अवश्य ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता है। इसलिए यह नहीं समझना कि ब्रह्मचारी शब्द का प्रयोग घर बार त्यागी साधुओं के लिए ही किया गया है। प्रत्युत ग्रहस्थी भी स्वदार निरत होकर सन्तानोत्पत्ति के लिए ग्रहस्थ उपभोग करते हुए अवश्य ब्रह्मचारी ही है और उस प्रकार के ब्रह्मचर्य व्रत का फल उनका शरीर उनको बतलाता ही रहेगा।

ब्रह्मचर्य व्रत पालन करने के लिए एक विशेष प्राणायाम

प्रथम विधिः—योगासन करने वाले साधक

त्रिकोण आसन को भली प्रकार जानते है। पहले साधारण रूप से सीधे खड़े हो जायें फिर सहसा अपने प्राणों को नासिका रन्ध्रों से एक दम बाहर निकाल देने पर नाभि के नीचे के भाग को जहां पर मल-मूत्र की विसर्जनी नाड़ियां रहती हैं, उस भाग को अपने दाहिने हाथ से बायीं ओर से दाहिनी ओर मल करके प्राण को बाहर रोके हुए ही बायीं ओर का घुटना झुकाकर त्रिकोण आसन की विधि से घुटना झुकाकर त्रिकोण आसन कर ले और उसके बाद धीरे-धीरे प्राण को भीतर ले आयें किन्तु भीतर रोकने की आवश्यकता नहीं है। फिर प्राणों को समान गति से चलने दे, इसी प्रकार से फिर दूसरी बार पूरे प्राण कोष को बाहर निकाल कर नाभि से नीचे के भाग को फिर दाहिने हाथ से ऊपर की ओर मलकर प्राण को बाहर रोके हुए दाहिनी ओर का घुटना झुकाकर के त्रिकोण आसन की विधि से आसन करे, जब तक प्राण बाहर रहे तब तक उस आसन को कायम रखे और ज्योंही घबराहट शुरू हो और प्राण भीतर जाने लगें तो आसन भी छोड़ दें, साथ-साथ यह धारणा करते रहें कि मैं अपने वीर्य को ऊपर की ओर आकर्षित कर रहा हूँ ऐसा करने से मूत्राशय और मलाशय के ऊपर रहने वाला वीर्य-कोष भी अवश्य ऊपर की ओर आकर्षित हो जायेगा और इस क्रिया को करने वाला व्यक्ति ऊर्ध्व-रेतस हो जायेगा।

ऊर्ध्वरेतस प्राणायाम की दूसरी विधि–

सिद्धासन में बैठ जाइये, वैसे साधारण रूप से अपने बांये पैर की ऐड़ी को गुदा द्वार के आगे लिंग नाल के नीचे दृढ़ता से जमाकर रखें और दूसरे पैर की ऐड़ी को लिंग नाल के ऊपर रखें, यह ऐड़ियां इस प्रकार रखी हुई हों जिनकी ग्रन्थि भाग (टाकनी) बिलकुल सम-सूत्र रूप से मिले हुए से हों, इस प्रकार जमायें नीचे की ऐड़ी को थोड़ा दृढ़ करके रखें। जहां यह ऐड़ी रखी जाती है वहीं से वीर्यवाहिनी नाड़ी जाती है, इसके दबाव से यह नाड़ी दब जाती है और इस नाड़ी के दब जाने से मन के वासनिक आकर्षण कम हो जाते है, इस प्रकार अपने पैरों को जमाकर और दोनों हाथों को घुटनों पर जमाकर समकाय शिरोग्रीव की विधि के अनुसार शरीर को समसूत्रता में रख-कर सीधा बैठ जाय। ठोड़ी को थोड़ा झुका-कर छाती में लगाये, पेट भीतर की ओर झुका हुआ हो इसको सिंहासन कहा है। इस आसन से बैठकर ऊपर बतलाई विधि के अनु-सार अपने सारे शरीर के प्राण को एक दम बाहर निकाल दें और उड्डियान बन्ध लगा लें, उड्डियान बन्ध के साथ-साथ मूलद्वार का आकर्षण भी ऊपर की ओर स्वाभाविक हो हो जायेगा। प्राणों को बाहर की ओर रोके रखें, जिस समय प्राण बाहर रुका हुआ हो और उड्डियान बन्ध लगाकर मूल द्वार का

चित्त को मलिन, विक्षिप्त तथा दुःखी करने वाले छः मल

ब्रह्मचारी श्री ओमप्रकाश पालीवाल

यह छः प्रकार के मल चित्त को हर समय मलिन तथा विक्षिप्त बनाये रखते हैं। (१) राग मल (२) ईर्ष्या मल (३) परापकार-मल [निन्दा करना] (४) असूया मल [छिद्रा अन्वेषण] (५) द्वेष मल (६) आमर्ष मल [बदला लेने की भावना] इन छःहों मलों को भली-भांति समझ लेना चाहिए।

(१) राग मल—राग के बन्धन में मनुष्य रजोगुण के प्रभाव से जिस सुख का अनुभव करता है वह उस अस्थाई सुख को अनुभव करता है। वह प्रतिपक्ष यही चाहता है कि मुझे यह राग सुख सदा सर्वदा के लिए प्रति-पक्ष बना ही रहे। यह रजोगुण से सम्बन्ध रखने वाली वृत्ति राग कालुष्य को पैदा करती है। यह चित्त को मलिन कर देता है और मलिन चित्त योगी के सर्व कार्यों में बाधक है।

(२) ईर्ष्या मल—दूसरों की उन्नति को देखकर धन-धान्य, वैभव को देखकर मन में ईर्ष्या, डाह पैदा होना। यह इतना सुखी क्यों है आदि ये सभी ईर्ष्या कालुष्य कहलाते हैं और चित्त के ऊपर आवरण रूप मल हैं जो चित्त को हर समय मलिन बनाकर विक्षिप्त बनाये रहते हैं।

(३) परापकार मल—जिसके अन्दर दूसरों की बुराई करने की आदत या दूसरों को हानि पहुँचाने की भावना का प्रतिक्षण बने रहना, इसी का नाम परापकार चिकीर्षा कालुष्य है।

[पिछले पृष्ठ का शेष]

ऊर्ध्वाकर्षण किया हुआ हो उस समय अपने मन में धारणा करे कि मैं अपने वीर्य को ऊपर की ओर आकर्षित कर रहा हूँ, फिर उसके बाद जब घबराहट हो तो प्राण को अन्दर ले आयें किन्तु अन्दर रोकें नहीं। इस प्रकार के तीन प्राणायाम रोज करने से वीर्य विकारों में बड़ा अनुपम लाभ होता है। और उसके साथ-साथ उपयुक्त खान-पान मिलता हो तो इन्हीं प्राणायामों को २०-२१ तक भी बढ़ाया जा सकता है किन्तु हर साधक को अधिक मात्रा में प्राणायाम नहीं करना करना चाहिए केवल मात्र वीर्य विकार वाले रोगियों को रोग निवृत्ति के लिए दो या तीन प्राणायाम कर लेने चाहिए। ऐसा करने से उनको अवश्य अनुपम लाभ होगा।

—क्रमशः

यह भी चित्त का मल है जो चित्त को विक्षिप्त किये रहता है।

(४) असूया मल—किसी गुणी व्यक्ति के अन्दर अवगुण देखना, सदाचारी व्यक्ति को दुराचारी, दम्भी एवं कपटी बतलाना, यह सभी असूया कालुष्य है जो चित्त को हर समय कलुषित करते रहते हैं।

(५) द्वेष मल—किसी से कोई अपराध बन जाने पर उसको क्षमा न करके उसमें द्वेष करना। क्योंकि जिसके अन्दर द्वेष है वह व्यक्ति अपराधी को क्षमा नहीं कर सकता, प्रत्युत द्वेष करने वाला व्यक्ति बदला लेना चाहता है। इसी का नाम द्वेष कालुष्य है। यह मल हर समय चित्त को द्वेष की ज्वाला से जलाता रहता है।

(६) आमर्ष मल—किसी के कठोर वचन कहने पर या अपमानित होकर उसको सहन न करके बदला लेने की भावना मन में बनी रहना यही आमर्ष कालुष्य कहलाता है। इसके कारण भी चित्त मलिन होता है।

इस प्रकार यह चित्त के छः मल चित्त को सब प्रकार से मलिन, कलुषित एवं विक्षिप्त बनाये रखते हैं। जिस योगी साधक अथवा अध्यात्म पथ में चलने वाले के अन्दर यह भाव रहते हैं। वह कभी भी एकाग्रता को नहीं प्राप्त कर सकता और साधना में एकाग्रता का न होना साधक के मार्ग में बहुत बड़ा अन्तराय है। इन सभी प्रकार के कालिमाओं के मलों के धोने के लिए सुख सम्पन्न सभी प्राणियों के अन्दर मैत्री भावना करने से राग और ईर्ष्या दोनों का बिल्कुल-बिल्कुल अभाव हो जाता है। इसी प्रकार दुखित प्राणियों पर दया करने से परापकार मल का नाश हो जाता है। वह किसी को सताना नहीं चाहता, जैसे मेरा दुःख वैसे ही दूसरों का दुःख। यह समझ कर साधक सबके प्रति दया की भावना करता है यह भावना साधक के कल्याण की मूल एवं महत्वपूर्ण भावना है।

जो व्यक्ति धर्म-परायण परोपकारपरायण, पुण्यात्मा लोगों को देखकर हर्षित रहता है उसके मन से असूया मल निकल कर पवित्रता छा जाती है। पापात्मा लोगों के प्रति जो उपेक्षा भाव है ऐसा करने से योगी के मन से द्वेष और आमर्ष भाव बिल्कुल हट जाते हैं। वह उनके प्रति द्वेष नहीं करता। योगी सोचता है यह स्वयं ही पापात्मा एवं निम्न कर्मों में रत है तो इससे मैं ईर्ष्या करूँ, ऐसी भावना आने से चित्त में बदला लेने की भावना नष्ट हो जाती है। इस प्रकार इन चार प्रकार की भावनाओं से योगी के चित्त के मल शान्त हो जाते हैं।

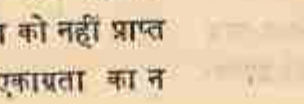

ज्योतिष-शास्त्र में सिद्धयोग

श्री सूरजप्रकाश

वशिष्ठ जी ने कहा है कि—

उद्वाहलग्नवशतो गुणवृत्तलब्धि

अर्थात् विवाहादि के मुहूर्त से गुण, चरित्र प्राप्त होते हैं। यदि आप कहें कि जन्म-काल के ग्रहों के अनुसार जो फल होने वाला है वह तो होगा ही, तो ऐसा नहीं। कारण—

ज्योतिषस्मृत्यावेदित शुभसमयारब्ध विधि जन्यापूर्वजनित शुभफलेन जन्मान्तरीय दुरदृष्टध्वंसो भवति।

अर्थात् ज्योतिष स्मृति के कहे हुए शुभ समय में कर्तव्य-पालन करने से पुण्य उत्पन्न होता है, वह पुण्य पूर्व जन्म के अशुभ फल को नाश कर शुभ फल प्राप्त करता है, यही मुहूर्त में काम करने का मुख्य उपयोग है।

ज्योतिष में अनेक शुभ मुहूर्त तथा योग काल हैं, जिसमें एक सिद्धकाल भी है। सिद्धयोग, सर्वार्थ सिद्धयोगों के अतिरिक्त पुष्य नक्षत्र का नाम भी सिद्ध नक्षत्र कहा गया है।

सिध्यन्ति अस्मिन् सर्वाणि,
कार्याणि इति सिध्यः।
पुष्यन्ति अस्मिन् सर्वाणि,
कार्याणि इति पुष्यः॥

पाणिनीय शास्त्र के अनुसार भी—

पुष्यसिद्ध्यौ नक्षत्र। (३/१/११३)

इस तरह "पुषपुष्टौ" (पुष्टि- पोषणम्) तथा सिध् धातु में 'क्यच्' प्रत्यय करने से 'पुष्य' एवं 'सिध्यः' एक ही अर्थ में ये दोनों शब्द बनते हैं। इस प्रकार अत्यन्त प्रसिद्ध होने से व्याकरण संहिता तथा तन्त्र मन्त्र ग्रन्थों में भी इसका सुस्पष्ट वर्णन मिलता है। यदि गुरुवार को पुष्य नक्षत्र हो, तो श्रेष्ठ तथा पूर्ण सिद्धयोग होता है—

गुरौ पुष्यसमायोगे सिद्धयोगः प्रकीर्तितः

महाभारत, बाल्मीकि रामायण, पुराणों, स्मृति तथा अन्य ग्रन्थों में भी पुष्य नक्षत्र की महत्ता विख्यात है। ज्योतिष शास्त्रों में भी कहा है—

सर्वसिद्धिकरः पुष्यः,
करग्रहं बिना सर्वं कर्म देवेज्यमे शुभम्।
(मु० चिन्तामणि)

प्रसिद्ध कवियों ने भी "पुष्य" की महिमा बताई है। महाकवि श्री भट्ट जी लिखते हैं कि सर्वार्थसिद्धिप्रद पुष्य नक्षत्र के समान ही जो योगसिद्धा तथा सर्वसिद्धा थी, उस शबरी के पास लक्ष्मण जी के साथ प्रभु श्री राम जी जा पहुचे—

सिध्यतारामिव ख्यातां शबरीमापतुर्वने
(भट्ट-काव्य ६/५६)

महाकवि कालिदास ने अपने रघुवंश के सत्तारवें सर्ग के बत्तीसवें श्लोक में वर्णन करते हैं कि भगवान् राम के वंश में एक "पुष्य" नामक राजा का जन्म हुआ। यथा—

तस्त प्रभानिर्जित पुष्यरागं,
पौष्यां तिथौ पुष्यमसूत पत्नी ।
तस्मिन्नपुष्यन्नुदिते समग्रां,
पुष्टिं जन्मः पुष्य इव द्वितये ।।

इसमें कवि ने 'पुष्य' को छः बार प्रयोग किया है। इससे स्पष्ट है कि पुष्य नक्षत्र से कवि का किसी रहस्यमय सम्बन्ध का ज्ञान होता है।

पुष्यः परकृतं हन्ति,
न तु पुष्यकृतं परः ।
अपि द्वादशगे चन्द्रे,
पुष्यः सर्वार्थसाधकः ।

अर्थात् सभी दुष्ट योगों में भी पुष्यकृत कार्य निस्संदेह सिद्ध हो जाता है। पुष्य नक्षत्र अन्य योग-नक्षत्रों के दोष को भी दूर करता है, किन्तु पुष्यके गुण किसी भी दुर्योग आदि द्वारा नष्ट नहीं होते। अतः पुष्य नक्षत्र में सभी शान्ति-पौष्टिक, सौभाग्य एवं वशीकरण प्रयोग सिद्ध होते हैं। पुष्य नक्षत्र में बनगोभी और चिच्चेड़े की जड़ें उखाड़कर माथे पर धारण करने से सभी वाद-विवादों में विजय प्राप्त होती है। इस नक्षत्र-काल में मालिश करने से अनेक चर्म रोग जाते रहते हैं। इसी नक्षत्र में कटैया की जड़ लेकर दायें बाजू पर बांधने से सौभाग्य की वृद्धि होती है। बृहस्पतिवार को या दशवीं तिथि को यह नक्षत्र पड़े तो सारे मणि मन्त्र, शिल्प, औषधि, कला, ज्ञान, क्रिया तथा अनुष्ठान पौष्टिक कार्यों की सिद्धि करने वाला है—

पौष्यद्वये पुष्यचतुष्टये च श्राद्धप्रदाता बहुपुत्रवान् स्यात् ।

(नारद स० ३७/२०)

अर्थात् पुष्य नक्षत्र में किये गये श्राद्ध से पितरों की भी अक्षय तृप्ति होती है और प्रदाता को धन-पुत्र की प्राप्ति होती है। लेख के विस्तार के भय से यहां ज्यादा प्रयोग नहीं लिखे गये हैं। ज्योतिष शास्त्र तथा आयुर्वेद में बहुत अन्य पुष्टिकर प्रयोग बताये हैं। फिर कभी दूसरे लेखों यदा-कदा शास्त्रों के अनुसार अनुभव किये प्रयोग भी वर्णन करेंगे। हमें कोई नई बात नहीं कहनी है, महान् सिद्धियों के मालिक हमारे पूर्वजों ने सब कुछ हमारे लिए लेखनी द्वारा शास्त्र, पुराणों में संकेत किये हैं। हमें केवल मात्र उन्हीं की आज्ञानुसार बर्तना है। ऐसा करने से हम सदा सुखी रहकर अन्त में परम-पद को प्राप्त करने के अधिकारी बन सकते हैं।

मनमाने निषिद्ध समय में काम करने से शुभ फल तो मिलता ही नहीं, पाप-मात्र होता है वेद जिसे करो कहता है वह विधि है तथा जिसे मत करो कहता है वह निषेध है। यह विधि माननी ही चाहिए तथा निषेध से तो बचना ही चाहिए। ☆☆

कर्माशय और उसका भोग— (पृष्ठ ८ का शेष)

प्रधानकर्मण्यावापगमनम्। यत्रेदमुक्तं "स्यात् स्वल्पः सङ्करः सपरिहारः स प्रत्यवमर्शः, कुशलस्य नापकर्षायालं। कस्मात् कुशलं हि मे बह्वन्यदस्ति नायमावापं गतः स्वर्गेप्यपकर्षमल्पं करिष्यति इति।

नियतविपाकप्रधानकर्मणाऽभिभूतस्य वा चिरमवस्थानम्। कथमिति, अदृष्टजन्मवेदनीयस्यैव नियतविपाकस्य कर्मणः समानं मरणमभिव्यक्तिकारणमुक्तं। न त्वदृष्टजन्मवेदनीयस्यानियतविपाकस्य। यत्त्वदृष्टजन्मवेदनीयं कर्मानियतविपाकं तन्नश्येद् आवापं वा गच्छेद् अभिभूतं वा चिरमप्युपासीत यावत्समानं कर्माभिव्यञ्जकं निमित्तमस्य न विपाकाभिमुखं करोति इति। तद्विपाकस्यैव देशकालनिमित्तानवधारणादियं कर्मगतिर्विचित्रा दुर्विज्ञाना चेति। न चोत्सर्गस्यापवादान्निवृत्तिरितिएकभविकः कर्माशयोऽनुज्ञायत इति। १३॥

अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पांचों क्लेश जिस मनुष्य के मन में वर्तमान रहते हैं तभी मनुष्य का कर्माशय कर्मफल के भोग देने में समर्थ वाला होता है और जो कर्माशय जिसके क्लेश-भोग कट चुके हैं, वह कर्माशय कर्मफल का देने वाला नहीं हो सकता। भगवान् व्यासदेव जी उदाहरण देकर समझाते हैं कि जिस प्रकार से तुषों सहित चावल अदग्ध बीजभाव हुआ करते हैं, वही खेती में उपज के लायक हुआ करते हैं और जो चावल दग्ध-बीजभाव वाले हो जाया करते हैं। अर्थात् जिनका छिल्लड़ धानकुटे से कूट-कूटकर उतार दिया जाता है। ऐसे तुष-रहित चावल, क्योंकि उनका बीजभाव दग्ध हो चुका है। ऐसे चावल खेती में डाल भी दिये जायें, तो वह कभी भी पैदा नहीं हुआ करते। ठीक इसी प्रकार से क्लेशों से घिरा हुआ क्लेशावलम्ब कर्माशय कर्म-विपाक का देने वाला हुआ करता है न कि नष्ट क्लेश वाला कर्माशय कर्म-विपाक को दे सकता है। इसी प्रकार से जो कर्माशय दग्धक्लेश बीज-भाव को प्राप्त हो जाता है, वह कर्माशय कर्मभोग का दाता नहीं हुआ करता। क्लेश-मूलक कर्माशय तीन प्रकार से कर्मभोग दिया करता है और वह पहले जाति को देता है, आयु का विधान करता है, उसके बाद कर्मों के भोग को दिया करता है। यहाँ पर एक बात विचार करने योग्य है--

१—पहली बात यह है कि क्या एक कर्म एक जन्म का कारण होता है या एक कर्म अनेक जन्मोंके जीने का कारण हुआ करता है?

२—दूसरी विचारने योग्य बात यह है, क्या अनेक कर्म अनेक जन्मों के दाता होते हैं या अनेक कर्म एक ही जन्म में मिट जाया करते हैं ?

इसका उत्तर इस प्रकार से है—अर्थात् एक कर्म अनेक जन्मों का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि अनादि काल से प्रचय किये हुए कर्म कर्माशय में पड़े रहा करते हैं। यदि एक ही कर्म अनेक जन्मों के भोग का कारण बनेगा तो बाकी के अनन्त काल से निर्माण किये हुए कर्म बचे रहेंगे। अर्थात् उनका भोग काल आयेगा ही नहीं और ऐसा होने से कर्म-काण्डी लोगों में बड़ा ही अविश्वास पैदा हो जायेगा और लोगों में इस प्रकार का अविश्वास आ जाने से बड़ा भारी अनिष्ट होगा। और इस प्रकार से एक कर्म अनेक जन्मों के भोग का कारण नहीं हो सकता। क्योंकि बाकी के अवशेष कर्मों के भोगकाल का अभाव ही रहेगा। इसलिए यह बड़ी ही अनिष्ट की बात है और यदि यह कहा जाये कि अनेक कर्म अनेक जन्मों के कारण होते हैं तो वह भी बात नहीं बन सकती, क्योंकि अनेक कर्मों के फल-स्वरूप अनेक जन्म एक साथ नहीं हो सकते। और यह कहा जाये कि उन कर्मों का फल क्रमशः एक के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा इस प्रकार से बहुत ही लम्बा भुगतान चल पड़ेगा। इसमें भी वही पहले वाली बात सामने आयेगी। इसलिये जन्म-जन्मान्तर में पुण्यापुण्य कर्माशय प्रचय एक प्रधान कर्म के उपसर्जनीभूत (सहयोगी) एक बहुत बड़े कर्म-समूह को मिलाकरके एक ही जन्म का कारण बनता है अर्थात् एक कर्म समुच्चय के अन्दर एक प्रधान कर्म और अनेक कर्मों को साथ लगाकर एक जन्म का कारण बनता है और वह जन्म उस कर्म समुच्चय को साथ लेकर जन्म देने वाला वह कर्म आयु को प्राप्त करता है। उस कर्म से दी हुई उसी आयु के अन्दर, उस ही कर्म के द्वारा कर्म का भोग उपस्थित होता है। अतः यह बात निश्चित हुई कि मनुष्य का वह कर्माशय जन्म आयु और भोग का कारण होने से त्रिविपाक वाला कहा जाता है। इसलिये यह बात निश्चित हो गई कि प्रधान का उपसर्जनीभूत एक कर्माशय ही एक जन्म का कारण होता है और ऊपर हम जिस दृश्यजन्मसंवेदनीय कर्माशय का वर्णन कर आये हैं वह एक विपाक का कारण होता है—इसमें भोग के कारण और दो विपाक का आरम्भ करता है आयु और भोग के कारण जैसे हम ऊपर जहां पर दृष्टादृश्य जन्म संवेदनीय कर्माशयों में नन्दीश्वर और नहुस का वर्णन कर आये। उसी प्रकार यहां पर भी है। इस बात को इस प्रकार समझ लें, जिस प्रकार नन्दीश्वर पहले मनुष्य रूप में था और वह कृपा-विशेष से सदेह स्वर्ग को चला गया इसमें उसको दो वस्तु प्राप्त हुई। १—देवलोक की आयु, २—देवलोक के भोग। इसी प्रकार से

राजा नहुस को भी तीन वस्तुयें प्राप्त हुईः— तिर्य्यक योनि का शरीर, उसकी आयु और भोग। इस सन्देश को इस प्रकार समझ लेना चाहिये कि अनन्तकालीन क्लेशकर्म वासनाओं के द्वारा मूच्छित किया हुआ यह चित्त चारों ओर से मछली पकड़ने वाले जाल की तरह से घिरा हुआ अनेक जन्मों में होने वाली वासनाओं और संस्कारों के कारण ये कर्माशय एक भवित हुआ और जो संस्कार और स्मृति के कारण है, वे सारी की सारी वासनाएँ अनादि कालीन हैं। वह कर्माशय है तो एक ही जन्म का दाता, किन्तु नियत कर्म विपाक और अनियत कर्म विपाक के भेद से दो प्रकार का है। वहां पर अदृष्ट जन्म संवेदनीय नियत कर्म विपाक के लिए यह नियम है और अदृष्य जन्म वेदनीय अनियत कर्म विपास के लिए नहीं है। क्योंकि अदृष्य जन्म संवेदनीय कर्माशय अनियत कर्म-विपाक की तीन गतियां होती हैं—

१—किये हुए कर्म विपाक का नाश हो जाये अथवा किसी प्रधान तीव्र कर्म के साथ उसका भी भुगतान हो जाये या नियत कर्म विपाक इतना प्रबल हो कि वह कर्म प्रसुप्तावस्था में ही पड़े रहें। इस बात को यूँ समझ लेना चाहिए। कृतकर्म विपाक का नाश जैसे यहीं पर कोई तीव्रतम पुण्य कर्म के भोग काल में वैसे ही नाश हो जाये जैसे प्रकाश के अन्दर अन्धेरा नहीं रहता। इसी प्रकार से पापकर्मों के बारे में भी समझ लेना चाहिये। यदि कोई मनुष्य घोर कर्मों का पाप भोग रहा है, उस काल में यदि कोई छोटा-मोटा पुण्य-कर्म हो जाये, तो उन पाप-कर्मों की अग्नि में जलकर भस्म हो जाया करता है। मुख्य बात तो यह रही, इसके अतिरिक्त यह भी हो सकता है कि नियत कर्म विपाक प्रधान कर्म से अभिभूत होकर प्रसुप्तावस्था में उभय कर्म बहुत देर तक पड़े रहें। कहने का अभिप्राय केवलमात्र एक है कि अदृष्टजन्म संवेदनीय नियत कर्म विपाक के समान उसके प्रकट करने के कारण मृत्यु को कहा है। इस प्रकार अदृष्टजन्म-वेदनीय नियत कर्म विपाक का नहीं और जो अदृष्टजन्म वेदनीय कर्म जिनका अनियमित कर्म विपाक है, वह खतम हो जाता है या विलीन हो जाया करता है या बहुत देर तक प्रधान कर्म की सहायता चाहने वाला पड़ा रहा करता है। जब तक उसका अभिव्यञ्जक कर्म निमित्त बनकर उसके विपाक को प्रगट नहीं करता, वह कर्म विपाक देशकाल निमित्त को धारण करने से यह कर्मगति बहुत ही विचित्र है और जानी नहीं जा सकती और न ही इसकी उत्सर्ग बिना निवृत्ति हो हो पाती है। भगवान पतंजलिदेव आदेश करते हैं—

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्य-हेतुत्वाद्

—साधनपाद १४

अर्थात् वे कर्म सुख और दुःख को देने वाले हैं पुण्य और पाप के होने के नाते इन्हीं भावों को भगवान व्यासदेव जी इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

ते जन्मायुर्भोगाः पुण्यहेतुकाः सुखफला अपुण्यहेतुका दुःखफला इति। यथा चेदं दुःखप्रतिकूलात्मकमेवं विषयसुखकालेऽपि दुःखमस्त्येव प्रतिकूलात्मकं योगिनः ॥१४॥

अर्थात् जन्म, आयु और भोग यदि पुण्यरूप हों तो वे सुखरूप फल के दाता हुआ करते हैं और पाप-फल हो तो दुःख फल के दाता हुआ करते हैं। किन्तु कुछ भी हो यह वासना रूप सुख भी योगी के लिए प्रतिकूलात्मक ही है, इसलिये साधक को चाहिये कि योगाभ्यास द्वारा कर्म-विमुक्ति के चरम लक्ष्य निर्बीज समाधि तक अपने आपको ले जाये तभी कर्मबन्धन से मुक्त हो सकता है। वैसे तो यह नियम है कि लोहे से लोहे का भेदन होता है। लोहे की आरी लोहे को काट डालती है। इस सिद्धान्त के अनुसार भगवान श्रीकृष्ण अपनी श्रीमद्भगवद्गीता में आदेश करते हैं कि—

न कर्मणामनारम्भान्नै-
ष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव
सिद्धिं समधिगच्छति ॥
न हि कश्चित्क्षणमपि
जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म
सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य
य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा
मिथ्याचारः स उच्यते ॥
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा
नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगम-
सक्तः स विशिष्यते ॥
नियतं कुरु कर्म त्वं
कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते
न प्रसिद्धयेदकर्मणः ॥

(गीता ३/ ४ से ८ तक)

अर्थात् कोई भी व्यक्ति बिना कर्मों के आरम्भ किये निष्काम कर्मयोगिता को प्राप्त नहीं हो सकता। कर्मों को छोड़कर बैठ जाने से भी सिद्धि को प्राप्त नहीं हो सकता। संसार में जन्म लेकर कोई भी व्यक्ति कर्म किये बिना रह ही नहीं सकता। मनुष्य को प्रकृति के वश में होकर स्वभाव से कर्म करने ही पड़ते हैं, कदाचित कोई व्यक्ति कर्मेन्द्रियों पर नियन्त्रण करके बैठा रहता है और मनसे उन कर्मेन्द्रियों

के वासनारूप अर्थ का चिन्तन करता रहता है। वह व्यक्ति मिथ्याचारी कहलाते हैं और इसके अतिरिक्त जो व्यक्ति मन से इन्द्रियों पर नियन्त्रण करके कर्मेन्द्रियों के द्वारा कर्मासक्ति को छोड़कर कर्म करता रहता है, वह ठीक है। ये सब बातें समझाकर भगवान भी अर्जुन को आदेश देते हैं—हे अर्जुन! तुम कर्म तो करो, किन्तु कर्मफल की आसक्ति को छोड़कर कर्म करो। क्योंकि बिना कर्म किये तो तुम्हारे शरीर का निर्वाह भी नहीं हो सकता। आगे चल करके भगवान जनकादि का उदाहरण दे करके अर्जुन को समझाते हैं—

कर्मणैव हि संसिद्धि-
मास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रह मेवापि,
संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥
यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्त,
देवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते,
लोकस्तदनुवर्तते ॥

अर्थात् वैसे लोक व्यवहार को देखकर भी कर्म करना ही चाहिए, क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष जो भी आचरण करता है, वही सब आचरण और लोग भी किया करते हैं वह जिस वस्तु को प्रमाण मानता है, उसीको सब लोग भी माना करते हैं। इससे आगे भगवान् अपना उदाहरण दे करके कर्मयोग की निष्कामता को समझाते हुए कहते हैं—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं,
त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं,
वर्त एव च कर्माणि ॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं,
जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते,
मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न,
कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्त्ता स्यामु-
पहन्यामिमाः प्रजाः ॥
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो,
यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्त-
श्चिकीर्षुर्लोक संग्रहम् ॥

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को समझाते हुए कहते हैं कि—हे अर्जुन! तीन लोकों में मेरा कुछ भी कर्तव्य बाकी नहीं है और न ही कोई ऐसी वस्तु, जिसे मैंने प्राप्त न किया हो, फिर भी मैं कर्म करता रहता हूँ। कदाचित् मैं आलस्य छोड़कर कर्म न करूँ, तो संसार के विनाश का कारण मैं बन जाऊँगा और वर्ण-संकर का कारण बन जाऊँगा, क्योंकि सभी

लोक मेरे रास्ते पर चलते हैं, इसलिए जैसे मूर्ख लोग कर्मफल में आसक्ति रखकर कर्म करते हैं। इसी प्रकार विद्वानों को कर्मफल की आसक्ति छोड़कर कर्म करते रहना चाहिए। क्योंकि सभी संसार श्रेष्ठ पुरुषों के पीछे चला करता है। इसलिए मनुष्य को कर्म करते हुए ही निष्काम कर्मयोग को प्राप्त होना चाहिए। जो लोग नियमित रूप से कर्म करते रहते हैं, वह कालान्तर में निष्कामता को जरूर प्राप्त कर जाते हैं—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं
कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च
न निरग्निर्न चाक्रियः ॥
यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं
तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो
योगी भवति कश्चन ॥
आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं
कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव
शमः कारणमुच्यते ॥

अर्थात् कर्मफल की आसक्ति को छोड़कर कर्म करते रहते हैं वही संन्यासी हैं और वही योगी। जो अक्रिय हैं और निरग्नि हैं वह न संन्यासी हैं और न ही योगी ही हैं। हे अर्जुन जिसको संन्यास कहा गया है उसे तुम योग ही जानो क्योंकि जिसने सारे संकल्पों का नाश नहीं किया वह योगी भी नहीं हो सकता। योगारूढ़ होने के लिए पहले मनुष्य को कर्म करनाही पड़ता है और योगारूढ़ हो जाने के बाद वह योगी निर्वाण—परमशान्ति को प्राप्त हो सकता है। इसलिये साधक को चाहिए कि वह दृश्यजन्मसंवेदनीय नियत कर्म विपाक तो करता रहे किन्तु अपने आपको निरन्तर अभ्यास करते हुए निर्बीज समाधि तक ले जाये जहां पहुँचकर कोई मायिक बीज रहता ही नहीं। तभी मनुष्य कर्माशय और अपने भोग से मुक्ति पा सकेगा। ऐसी स्थिति को पाकर मनुष्य जन्म-मरण के चक्कर से छूट जाया करता है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः
सर्वे सन्तु निरामया ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु
मा कश्चिद् दुख भाग्भवेत् ॥

काम-भाव को दूर करने का एकमात्र उपाय है, पुरुषों के लिए सब स्त्रियों में मातृ-भाव और स्त्रियों के लिए सब पुरुषों में सन्तान-भाव का पोषण करना। यह भाव न रहने पर पतन की सम्भावना रहेगी ही। काम को संयत किये बिना, और ब्रह्मचर्य रक्षा हुए बिना, मन स्थिर नहीं होता, ठीक-ठीक एकाग्रता और ध्यानावस्था नहीं आती, और भगवान में रागानुगा भक्ति की प्राप्ति नहीं होती।

—स्वामी विरजानन्द

❀ आनन्दकन्द योग–योगेश्वर श्री सद्गुरुदेव जी द्वारा

❀ सवांई के चमत्कारिक चरित्र ❀

सद्गुरुदेव योग-योगेश्वर महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज की अनुकम्पा से मुझे सवांई गांव में निवास करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। यह छोटा सा गांव कितना बड़ा भाग्यशाली है, इसका वर्णन करना लेखनी से बाहर है। सवांई बहुत छोटा सा गांव है। इसकी जनसंख्या दो या तीन हजार से अधिक नहीं है किन्तु फिर भी इसमें बड़े-बड़े आदमियों का निवास है। इस गांव के निवासी अच्छे ऊँचे पदों पर आसीन हैं। पोस्ट आफिस, टेलीफोन व बिजली का सुप्रबन्ध है। सबसे बड़ी सौभाग्य की बात तो यह है कि इस गांव की पवित्र भूमि में नेपाल हिमालय से लौटकर योग-योगेश्वर सद्गुरुदेव प्रभु श्री रामलाल जी महाराज ने कुछ समय यहां निवास किया था। मन को बड़ा आश्चर्य होता है कि कहां सिद्धों से सेवित हिमालय जिसमें हजारों वर्षों की उम्र वाले विजयी सिद्ध योगिराज लोग निवास करते हैं और कहां यह एक साधारणसा गांव, जहां श्री प्रभुजी ने आकर निवास किया था। यद्यपि श्री प्रभुजी की समस्त जीवन-कथाओं का संग्रह करना साधारण कार्य नहीं। उन्होंने एक ही समय में अनेक स्थानों पर कितने ही अद्भुत चरित्र किये। अपनी करुणा कृपा से सैकड़ों को पूर्णरूपेण कृतार्थ कर हिमालय की कन्दराओं में बिठा दिया। लाखों दुःखी प्राणियों को संकल्प मात्र से आरोग्य प्रदान किया। सभी कथाओं का संग्रह करना असम्भव नहीं तो दुसाध्य अवश्य है। किन्तु फिर भी इस छोटे से गांव में आकरके लोकानुग्रह के लिए जो अद्भुत चरित्र किये, उनका यावत साध्य संग्रह कर सर्वसाधारण के हितार्थ प्रकाशित कर देना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ।

श्री प्रभुजी का जन्म पूर्वी पंजाब अमृतसर में पण्डित गण्डाराम जी ज्योतिषी के घर में हुआ था। महामना पण्डित गण्डाराम जी ज्योतिषी बड़े ही प्रकाण्ड पण्डित थे। उन्होंने

अपने ज्योतिष-विद्या के प्रभाव से छोटे-बड़े सभी व्यक्तियों में ऊँचा सम्मान प्राप्त किया था। श्री प्रभु जी के जन्म-काल में ही उनके जन्म-कालीन ग्रहों को देख करके पं० गण्डाराम जी ने अपने मन में यह निश्चय कर लिया था कि यह बालक कोई परिपूर्ण जन्म-सिद्ध योगिराज है और कुछ समय के बाद यह हमारे पास नहीं रह सकेगा। ऐसा ही हुआ भी। श्री प्रभुजी के बाल्यकाल में अनेकों अद्भुत घटनायें घटीं। कई एक सिद्ध महात्मा भ्रमण करते हुए अमृतसर में आकर ठहर जाया करते थे। अवसर पाकर पं० गण्डारामजी के घर में श्री प्रभुजी के दर्शनार्थ जाया करते थे। श्री प्रभुजी बाल-लीला करते हुए अपने मुखारविन्द से जो भी शब्द निकलते थे वह पूर्ण सत्य होता था। अपनी बाल्य-लीला में श्री प्रभुजी कितनी ही भविष्य की बातें कह देते थे। उन सब बातों का वर्णन कर देना इस छोटी सी लेखमाला का विषय नहीं।

पण्डित गण्डाराम जी ने श्री प्रभुजी को अद्भुत कर्मी जान करके अपने घर रखने के लिये अनेक प्रयत्न किये, किन्तु किसी में भी वे सफल नहीं हो सके। अवसर पाते ही पंच-दश वर्षीय अपनी छोटी सी आयु में ही श्रीप्रभु जी अपने घर से निकल पड़े। वे कुरुक्षेत्र में आकरके विद्याध्ययन करते रहे। श्री पण्डित गण्डाराम जी को भी कर्ण परम्परा से इनके विद्याध्ययन के लिए कुरुक्षेत्र जाने का ज्ञान हो गया। उन्होंने अपने भाइयों को भेज करके कुरुक्षेत्र से श्री प्रभुजी को अमृतसर से लौटाने का प्रयत्न किया, किन्तु निष्फल रहे। अपने पिता जी की इस प्रकार की भावनाओं को देखकर श्री प्रभु जी कुरुक्षेत्र से हरिद्वार चले गये। हरिद्वार से कनखल पहुँच करके कुछ समय तक वहां पर अध्ययन करते रहे। किन्तु वहां का भेद भी पंडित गण्डाराम जी ने तीर्थ-यात्रा करने वालों के द्वारा पा लिया। फिर उन्होंने श्री प्रभु जी को लौटाने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया। पण्डित तीर्थराम आदि श्रीप्रभु जी के सहोदर भाइयों को भेजा, किन्तु इनमें से कोई भी श्री प्रभु जी के विचारों को न बदल सका और सब निष्फल होकर लौट आये। अपने लक्ष्य—साधन में श्री प्रभुजी इन सब बाधाओं को जान कर कनखल विद्यालय को भी छोड़ दिया। पूर्ण विरक्त भाव से इत-स्ततः वनों में विचरने लगे। वनों की और तीर्थों की काफी दिनों तक यात्रायें कीं। श्री प्रभुजी के हृदय में तीव्र लगन थी कि वह हिमालय जा करके उसकी कन्दराओं में रहने वाले योगियों की खोज करें एवं पूर्ण सद्गुरु को पा करके योग-विद्या की परिपूर्णता को प्राप्त कर सकें।

(क्रमशः)

गीतोपदेश—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ।

सब इन्द्रियों के द्वारों को रोककर तथा मन को हृद्देश में स्थिर करके, फिर उस जीते हुए मन के द्वारा प्राण को मस्तक में स्थापित करके, परमात्मा सम्बन्धी योग-धारणा में स्थित होकर जो पुरुष 'ॐ' इस एक अक्षर रूप ब्रह्म को उच्चारण करता हुआ उसके अर्थ-स्वरूप मुझ निर्गुण ब्रह्म का चिन्तन करता हुआ शरीर को त्याग कर जाता है, वह पुरुष परम-गति को प्राप्त होता है।

श्रोतादि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और वाणी आदि पाँच कर्मेन्द्रिय—इन दसों इन्द्रियों के द्वारा विषयों का ग्रहण होता है, इसलिये इनको 'द्वार' कहते हैं। इसके अतिरिक्त इनके रहने के स्थानों (गोलकों) को भी द्वार कहते हैं। इन इन्द्रियों को बाह्य विषयों से हटाकर अर्थात् देखने-सुनने आदि की समस्त क्रियाओं को बन्द करके, साथ ही इन्द्रियों के गोलकों को भी रोककर इन्द्रियों की वृत्ति को अन्तर्मुख कर लेना ही सब द्वारों का संयम करना है। इसी को योग-शास्त्र में 'प्रत्याहार' कहते हैं।

नाभि और कण्ठ इन दोनों स्थानों के बीच का स्थान, जिसे हृदय-कमल भी कहते हैं और जो मन तथा प्राणों का निवास स्थान माना गया है, हृद्देश है, और इधर-उधर भटकने वाले मन को संकल्प-विकल्पों से रहित करके हृदय में निरुद्ध कर देना ही उसको हृद्देश में स्थिर करना है। मन को हृदय में रोकने के बाद प्राणों का ऊर्ध्वगामी नाड़ी के द्वारा हृदय से ऊपर उठाकर मस्तक में स्थापित करने के लिए कहा गया है, ऐसा करने से प्राणों के साथ-साथ मन भी वहीं जाकर स्थित हो जाता है।

उपर्युक्त प्रकार से इन्द्रियों का संयम और मन तथा प्राणों का मस्तक में भली-भाँति निश्चल हो जाना ही योग-धारणा में स्थित रहना है। 'आत्मनः' पद से यह बात दिखलाई गई है कि यहां परमात्मा से सम्बन्ध रखने वाली योग-धारणा का विषय है, अन्य देवतादि-विषयक चिन्तन से या प्रकृति के चिन्तन से सम्बन्ध रखने वाली धारणा का विषय नहीं है।

—※ पूज्य श्री गुरुदेव जी का कार्यक्रम ※—

पूज्य श्री गुरुदेव जी महाराज ऋषिकेश महोत्सव के पश्चात् १५ जून के लगभग हरियाणा प्रान्त के कुछ कार्यक्रमों में भाग लेकर ५ जोलाई को सवाँई आश्रम आ पहुँचेंगे। अतः उनसे सम्बन्धित आगे का पत्र-व्यवहार सवाँई आश्रम के पते से किया जाना चाहिए।

प्रेषक कार्यालय :—

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुरु योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एमादपुर) आगरा ।

PRINTED MATTER
Book-Post

श्री .....

.....

.....

.....

धर्म की कसौटी है—अन्तर्मुखता

धर्म की कसौटी है—अन्तर्मुखता । अन्तर्मुखी व्यक्ति उपासना के लिये अलग से समय न लगाने पर भी हर समय धर्म की आराधना करता है। हर परिस्थिति में वह विवश होकर नहीं, किन्तु आत्म-धर्म मानकर सम रहता है, तितिक्षा, क्षमा और ऋजुता की ओर अग्रसर होता है तथा घृणा, विद्वेष, ईर्ष्या और अहं से दूर रहता है ।

ये विशेषतायें प्रत्येक व्यक्ति में होती हैं, किन्तु साधना के अभाव में दुर्भावना, असहिष्णुता और वक्रता इन पर हावी हो जाती है । फलतः व्यक्ति बाह्यदर्शी बन जाता है । ध्यान से सुषुप्त शक्तियां जाग्रत हो जाती हैं और विशृङ्खल शक्तियां एकत्रित हो जाती हैं । फिर कोई भी बुराई उन पर छा नहीं सकती । अतएव वृत्तियों को अन्तर्मुखी बनाने के लिये ध्यान का अभ्यास करना अपेक्षित है ।

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बरई कला, राजगंज, आगरा-१ फोन ६३१६८

Reg. No. L. AG. 103

SIDDHAYOGA